श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला २०८वां रत्न

- पुस्तक

  चिन्तन के विविध आयाम

- लेखक

  देवेन्द्रमुनि शास्त्री

- विषय

  जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति व साहित्य

- प्रकाशन वर्ष

  ३१, अक्टूबर १९८२

  आश्विन पूर्णिमा, वि० सं० २०३९

- पृष्ठ संख्या २१६

- प्रकाशक

  श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

  शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज०)

- मूल्य

  पन्द्रह रुपया मात्र

- मुद्रक

  श्रीचन्द सुराना के लिए

  माडर्न प्रिंटर्स, आगरा

उपाध्याय देवो भव

तप और त्याग के
जो जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं;
ज्ञान और दर्शन के
जो पावन संगम हैं
अध्यात्म और चिन्तन के
जो गम्भीर ज्ञाता हैं,

उन्हीं परम श्रद्धेय, राजस्थानकेशरी, अध्यात्मयोगी उपाध्याय **श्री पुष्कर मुनिजी महाराज** के कर-कमलों में,
सादर, सविनय।

—देवेन्द्रमुनि

प्रकाशकीय प्रकाश

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय साहित्य के क्षेत्र मे नित्य नूतन साहित्य प्रदान करता रहा है। साहित्य की हर विधा मे उसने शानदार प्रकाशन किये हैं। चाहे शोधग्रन्थ रहे हो, चाहे दार्शनिक विपय रहा हो, चाहे आचार-शास्त्र रहा हो, चाहे चिन्तन-परक साहित्य हो, चाहे प्रवचन साहित्य हो, चाहे कथा साहित्य हो। सभी मे उसने अपनी अनूठी कीर्ति अर्जित की है। राजस्थान मे ही नही, अपितु अखिल भारतीय जैन साहित्य सस्थानो मे उसका एक प्रमुख स्थान है। उसके लोकप्रिय प्रकाशन राजस्थानी, गुजराती, मराठी और अग्रेजी मे अनुदित भी हुए हैं। जैन कथाएँ सिरीजमाला मे मे अनेक भागो का अनुवाद 'श्री पुष्कर प्रसादी कथामाला' के रूप मे दो सौ पुस्तकें अभी तक गुजराती मे प्रकाशित हो चुकी है और अंग्रेजी मे भी कथाओ की पचास पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। 'भगवान् महावीर-एक अनुशीलन' जैसा विराट्काय ग्रन्थ भी गुजराती मे प्रकाशित हो चुका है तथा 'जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेपण' ग्रन्थ भी 'A Source Book In Jain Philosophy' के रूप मे शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। हमारे कुछ मौलिक प्रकाशनो को उदयपुर और दिल्ली विश्वविद्यालय ने M. A के सहायक-ग्रन्थो के रूप मे मान्यताएँ प्रदान की हैं।

साहित्य के क्षेत्र मे आगे वढने का सम्पूर्ण श्रेय परम श्रद्धेय, उपाध्याय, राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, सद्‌गुरुवर्य श्री पुष्करमुनि जी म० श्री को है, जिनकी असीम कृपा से ही हम इस क्षेत्र मे अपने मुस्तैदी कदम आगे वढ़ा सके हैं। अभी कुछ दिन पूर्व **'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप'** जैसे विशालकाय ग्रन्थ को हमने समर्पित किया। सुप्रसिद्ध दार्शनिक मूर्धन्य मनीषी प० दलसुख भाई मालवणिया ने इसे 'जैन आचार का विश्व-कोप' कहा है और अन्य विद्वानो ने उसकी मुक्त कण्ठ से सराहना की। 'चिन्तन के विविध आयाम' देवेन्द्रमुनि जी की अभिनव कृति है।

प्रस्तुत कृति मे देवेन्द्रमुनि जी ने विभिन्न विपयो पर जो निवन्ध या प्रस्तावनाएँ लिखी हैं उनका सकलन आकलन इसमे किया गया है। 'मोक्ष और मोक्ष-मार्ग' यह निवन्ध पूना विश्वविद्यालय में विद्वत् सगोष्ठी मे मुनि श्री ने पढा था। 'ईश्वर एक चिन्तन' इसी विधा मे लिखा हुआ उत्कृष्ट निवन्ध है। 'योग और—

लेश्या' जैसे गम्भीर विषयो पर भी चिन्तन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयो के ग्रन्थो पर महनीय प्रस्तावनाएँ लिखी। उसका सकलन भी इसमे है। अतः 'चिन्तन के विविध आयाम' ग्रन्थ का नाम सार्थक लगता है। ये सारे निवन्ध एक स्थान पर या एक समय मे नही लिखे गये हैं। इसलिए भाषा मे भी विषय के अनुरूप विविधता होना स्वाभाविक है।

शीघ्र एव सुन्दर मुद्रण मे स्नेह सौजन्य मूर्ति श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' जी का हार्दिक सहयोग मिला है। अतः हम उनका हृदय मे आभार मानते हैं। ग्रन्थालय के शानदार प्रकाशनो से आकर्षित होकर दानी महानुभाव अपना उदारतापूर्ण सहयोग प्रदान करते रहे हैं, उनके सहकार को भी हम विस्मृत नही हो सकते !

परमादरणीया स्वर्गीया प्रतिभामूर्ति विदुषी महासती श्री प्रभावती जी म० को भी इस अवसर पर भुला नही सकते, जिन्होने जीवन भर संघ की अपूर्व सेवा की। तथा अपनी सन्तान देवेन्द्रमुनिजी 'शास्त्री' एवं महासती श्री पुष्पवती जी सन्त व सती रत्न को जिन-शासन की सेवा मे समर्पित कर सद्गुरु व सद्गुरुणी जी के गौरव मे चार चाँद लगाये हैं। उनकी स्मृति मे सत् साहित्य सदा प्रकाश-स्तम्भ के रूप मे जन-जन को आलोक प्रदान करता रहेगा।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
(उदयपुर)

अपनी बात : अपनी कलम से

सन् १९७५ का वर्षावास पूना मे था। वहाँ प्रसिद्ध विद्वान् डा० एम० एन० वार्लिंगे जी काफी सम्पर्क मे आये। एक वार उन्होंने मुझसे स्नेहपूर्वक कहा—'मैं जैन दर्शन पर पूना विश्वविद्यालय मे सगोष्ठी का आयोजन कर रहा हूँ। उसमे प० दलसुख मालवणिया, प० कैलाशचन्द्र जी, प० दरबारीलाल कोठिया, डा० सगमलाल पाण्डे, डा० टी० जी० कलघटगी आदि भारत के विविध अचलो से विज्ञगण भाग लेने आयेंगे। आपको भी सगोष्ठी मे भाग लेना है। तथा शोध-पत्र भी पढना है।'

मैंने वार्लिगे जी से पूछा 'मुझे किस विषय पर शोध-पत्र पढ़ना होगा ? उत्तर मे उन्होंने वताया—आप चाहे तो 'मोक्ष और मोक्ष मार्ग' पर, चाहे तो 'ईश्वर' पर और चाहे तो 'लेश्या' पर शोध-पत्र पढें। मैंने तीनो ही विषयो पर शोध-पत्र तैयार किये। सगोष्ठी का कार्यक्रम वडा ही सफल रहा। मैंने समयाभाव से 'मोक्ष और मोक्ष मार्ग' पर शोध-पत्र पढा। जिसे सभी मूर्धन्यमनीषियो ने रुचिपूर्वक सुना और पसन्द किया। ये तीनो विषय ऐसे थे, जिस पर विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकते थे, पर सगोष्ठी मे समय की मर्यादा को लक्ष्य मे रखकर मैंने वहुत ही सक्षेप मे प्रत्येक विषय पर चिन्तन किया।

समय-समय पर प्रकाशित होने वाले ग्रन्थो पर प्रस्तावना के रूप मे कुछ विचार दिये और कुछ स्वतन्त्र निवन्ध भी लिखे। जिन विचारो का मूल्य शाश्वत रहा है, उनका सकलन प्रस्तुत ग्रन्थ मे कर दिया गया है। इसमे कितने ही लेख अप्रकाशित है, तो कितने ही लेख पूर्व प्रकाशित भी हुए हैं। यह सकलन एक समय मे और एक साथ वैठकर लिखा नही गया है, इसलिए विविधता होना स्वाभाविक है। विविधता मे एक प्रकार का आनन्द भी है, षड्रस का स्वाद है।

जैन दर्शन, धर्म, साहित्य, और सस्कृति का विषय वहुत ही व्यापक और गहन है, इसे समझने के लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है, और साथ ही एकाग्र चिन्तन व निर्व्याघात समय भी। आज के पाठक के पास यह सव कहाँ हैं ? उसके साथ भी परिस्थितियो की विवशता है, सक्षेप मे, सार रूप मे कुछ जानकर तृप्ति अनुभव कर लेना ही उसे पसन्द है। पाठको की इसी रुचि को, स्थिति को, ध्यान

मे रखकर यह विविध रस-मय सकलन तैयार किया है। जो सक्षेप मे विविध जानकारी दे सकेगा।

साहित्यिक क्षेत्र मे ही नही, अपितु आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे भी मैंने जो कुछ भी विकास किया है, वह परमश्रद्धेय, राजस्थानकेसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय, श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्करमुनि जी म० की असीम कृपा का ही सुफल है। उस असीम कृपा को ससीम शब्दो मे व्यक्त किया भी नही जा सकता। उनकी कृपा सदा बनी रहें, यही हार्दिक मगलकामना।

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के स्नेह को भी भूल नही सकता, जिन्होने 'ईश्वर : एक चिन्तन' निबन्ध का अवलोकन कर अपने अनमोल सुझाव से मुझे सूचित किया। श्री रमेशमुनि, श्री राजेन्द्रमुनि, श्री दिनेशमुनि, श्री नरेशमुनि आदि की सेवा-भावना लेखन मे सतत सहयोगी रही हैं तथा परमादरणीया ज्येष्ठ भगिनी साध्वी रत्न महासती श्री पुष्पवती जी म० का मार्गदर्शन भी मेरे लिए परम उपयोगी रहा है। मैं पूजनीया स्वर्गीया मातेश्वरी, प्रतिभामूर्ति श्री प्रभावती जी म० को भी विस्मृत नही हो सकता, जिनकी हित-शिक्षाओ के कारण मैं विकास कर सका हूँ। तथा मेरे हाथ मे कुछ दर्द होने के कारण बोलकर निबन्ध आदि लिखवाता रहा हूँ। उस दृष्टि से स्नेह सौजन्यमूर्ति एस० श्री कण्ठमूर्ति जी एव स्नेह सौजन्यमूर्ति एस० जयसिंह जी जैन 'रत्नेश' (गुलाबपुरा) का सहयोग भी भुलाया नही जा सकता। मुद्रणकला की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर बनाने मे स्नेह की साक्षात् मूर्ति श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को भी विस्मृत नही हो सकता जिनके कारण ग्रन्थ शीघ्र पाठको के पाणि-पद्मो मे पहुँचा है। ज्ञात और अज्ञात रूप से जिनका भी सहयोग मिला, उनका हृदय से आभारी हूँ।

जैन स्थानक सिंहपोल
जोधपुर
अक्टूबर, १९८२

—देवेन्द्र मुनि

□□

अनुक्रम

प्रथम खण्ड
धर्म-दर्शन चिन्तन

द्वितीय खण्ड
संस्कृति-साहित्य चिन्तन

सर्व पृष्ठ सख्या २१६

उदार सहयोग : सादर धन्यवाद

प्रस्तुत पुस्तक "चिन्तन के विविध आयाम"
के प्रकाशन मे आप श्री ने उदारतापूर्वक अर्थ-अनुदान
किया है, वह आप श्री की साहित्यिक भावना
तथा परम गुरुभक्ति का ज्वलन्त
प्रतीक है। उदार सहयोग
के लिए —

हार्दिक साधुवाद !

सम्माननीय श्रीमान् चम्पालालजी,
हीरालालजी टाटियां
पो० महामन्दिर (जोधपुर)
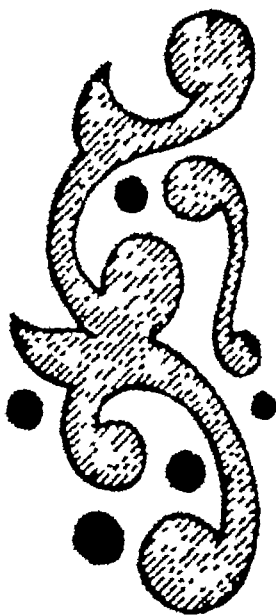
चिन्तन के विविध आयाम

प्रथम खण्ड :

धर्म - दर्शन - चिन्तन -

१

भारतीय चिन्तन में मोक्ष और मोक्ष-मार्ग

दर्शनशास्त्र के जगत मे तीन दर्शन मुख्य माने गये हैं—यूनानी दर्शन, पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन। यूनानी दर्शन का महान चिन्तक अरिस्टोटल (अरस्तू) माना जाता है। उसका अभिमत है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।[1] इसी बात को प्लेटो ने भी स्वीकार किया है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल प्रभृति ने दर्शनशास्त्र का उद्भावक तत्व सशय माना है।[2] भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है[3] और जिज्ञासा का मूल दु ख मे रहा हुआ है। जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर समाधि प्राप्त करने के लिए जिज्ञासाएँ जागृत हुईं। अन्य दर्शनो की भाँति भारतीय दर्शन का ध्येय ज्ञान प्राप्त करना मात्र नही है, अपितु उसका लक्ष्य दु खो को दूर कर परम व चरम सुख को प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन का मूल्य इसलिए कि वह केवल तत्त्व के गम्भीर रहस्यो का ज्ञान ही नही बढाता अपितु परम शुभ मोक्ष को प्राप्त करने मे भी सहायक है। भारतीय दर्शन केवल विचार प्रणाली नही किन्तु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करता है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। श्री अरविन्द मोक्ष को भारतीय विचारधारा का एक महान शब्द मानते हैं। भारतीय दर्शन की यदि कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक करती है तो वह मोक्ष का चिन्तन है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य मे मोक्ष को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म साधन है तो मोक्ष साध्य है। मोक्ष को केन्द्र-विन्दु मानकर ही भारतीय दर्शन[4] फलते और फूलते रहे हैं।

---

1 फिलासफी बिगिन्स इन वण्डर।

2 दर्शन का प्रयोजन, पृ० २६—डॉ० भगवानदास।

3 (क) अथातो धर्मजिज्ञासा—वैशेषिकदर्शन ६।
(ख) दु ख त्रयाभिघाताज् जिज्ञासा—सांख्यकारिका १, ईश्वरकृष्ण।
(ग) अथातो धर्मजिज्ञासा—मीमासा सूत्र १, जैमिनी।
(घ) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१।

4 देखिये, भगवती आदि जैन आगम।

मैं यहाँ पर मोक्ष और मोक्ष-मार्ग पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय आत्मवादी परम्परा को वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीविक इन चार भागो मे विभक्त कर सकते है। वर्तमान मे आजीविक दर्शन का कोई भी स्वतन्त्र-ग्रन्थ उपलब्ध नही है, अत आजीविक द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे चिन्तन न कर शेष तीन की मोक्ष सम्बन्धी विचारधारा पर चिन्तन करेंगे।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा, ये छह दर्शन वैदिक परम्परा मे आते है। पूर्वमीमासा मूलरूप मे कर्ममीमासा है, भले ही वह वर्तमान मे उपनिषद् या मोक्ष पर चिन्तन करती हो, पर प्रारम्भ मे उसका चिन्तन मोक्ष सम्बन्धी नही था।[1] किन्तु अवशेष पाँच दर्शनो ने मोक्ष पर चिन्तन किया है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन वैदिक दर्शनो मे आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे जैसा विचार-भेद है, वैसा मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी चिन्तन-भेद है। यहाँ तक कि एक-दूसरे दर्शन की कल्पना पृथक् पृथक् ही नही अपितु एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत भी है। जिन दर्शनो ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि को अपना मूल आधार माना है उनकी कल्पना मे भी एकरूपता नही है। कोई परम्परा जीवात्मा और परमात्मा मे भेद मानती है, कोई सर्वथा अभेद मानती है और कोई भेदाभेद मानती है। कोई परम्परा आत्मा को व्यापक मानती है[2] तो कोई अणु मानती है।[3] कोई परम्परा आत्मा को अनेक मानती है तो कोई एक मानती है, पर यह एक सत्य-तथ्य है कि वैदिक परम्परा के सभी दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे आत्मा को कूटस्थनित्य माना है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

वैशेपिक दर्शन के प्रणेता कणाद और न्यायदर्शन के प्रणेता अक्षपाद ये दोनो आत्मा के सम्बन्ध मे एकमत हैं। दोनो ने आत्मा को कूटस्थनित्य माना है। इनकी दृष्टि मे आत्मा एक नही अनेक है, जितने शरीर है उतनी आत्माएँ है। यदि एक ही आत्मा होती तो हम विराट विश्व मे जो विभिन्नता देखते हैं वह नही हो सकती थी।

न्याय और वैशेपिक दर्शन ने आत्मा को चेतन कहा है। उनके अभिमतानुसार चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण नही अपितु आगन्तुक (आकस्मिक) गुण है। जब

---

1 अध्यात्म विचारणा, पृ० ७४।

2 (क) मुण्डकोपनिषद १।१।६ (ख) वैशेपिक सूत्र ७।१।२२ (ग) न्यायमंजरी (विजयनगरम्) पृ० ४६८ (घ) प्रकरण पंजिका, पृ० १५८।

3 (क) बृहदारण्यक उपनिषद ५।६।१ (ख) छान्दोग्य उपनिषद ५।१८।१ (ग) मैत्री उपनिषद ६।३८।

तक शरीर, इन्द्रिय और सत्त्वात्मक मन आदि का सम्बन्ध रहता है तब तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा मे होता है। ऐसे ज्ञान को धारण करने की शक्ति चेतन मे है, पर वे ऐसा कोई स्वाभाविक गुण चेतन मे नही मानते है जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का सम्वन्ध न होने पर भी ज्ञान गुण रूप मे या विषय ग्रहण रूप मे आत्मा मे रहता हो। न्याय-वैशेषिकदर्शन की प्रस्तुत कल्पना अन्य वैदिक दर्शनो के साथ मेल नही खाती है। साख्यदर्शन, योगदर्शन एव आचार्य शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, प्रभृति जितनी भी वेद और उपनिषद् दर्शन की धाराएँ है वे इस वात को स्वीकार नही करती।[1] न्याय-वैशेपिक की दृष्टि से मोक्ष की अवस्था मे आत्मा सभी प्रकार के अनुभवो को त्यागकर केवल सत्ता मे रहता है। वह उस समय न शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकता है और न शुद्ध चैतन्य का ही। आनन्द और चेतना ये दोनो ही आत्मा के आकस्मिक गुण है और मोक्ष अवस्था मे आत्मा सभी आकस्मिक गुणो का परित्याग कर देती है, अत निर्गुण होने से आनन्द और चैतन्य भी मोक्ष अवस्था मे उसके साथ नही रहते।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा—यह दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[2] दु खो का ऐसा नाश है कि भविष्य मे पुन उनके होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है।

न्यायसूत्र पर भाष्य[3] करते हुए वात्स्यायन लिखते है कि जव तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तव उसके परिणामस्वरूप सभी दोष भी दूर हो जाते हैं। दोष नष्ट होने से कर्म करने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। कर्म-प्रवृत्ति समाप्त हो जाने से जन्म-मरण के चक्र रुक जाते है और दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।[4] न्यायवार्तिककार ने उसे सभी दु खो का आत्यन्तिक अभाव कहा है।[5] मोक्ष मे वुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेप, सकल्प, पुण्य, पाप तथा पूर्व अनुभवो के सस्कार इन नौ गुणो का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है।[6] उनकी दृष्टि से मोक्ष इसलिए परम पुरुषार्थ है कि उसमे किसी भी प्रकार का दु ख और दु ख के कारण का अस्तित्व नही है। वे मोक्ष की साधना इसलिए नही करते कि उसके प्राप्त होने पर कोई चैतन्य के सुख जैसा सहज और शाश्वत गुणो का अनुभव होगा।

---

1 अध्यात्म विचारणा पृष्ठ ७५।

2 (क) आत्यन्तिकी दु खनिवृत्ति —(मोक्ष)।
(ख) (मोक्ष) चरम दु खध्वस —तर्कदीपिका।

3 न्याय सूत्र १।१।२ पर भाष्य।

4 तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्ष। —वैशेपिक सूत्र ५।२।१८

5 (मोक्ष) आत्यन्तिको दु खाभाव। —न्याय वार्तिक

6 (क) न्यायमजरी, पृष्ठ ५०८।
(ख) सभाष्य न्यायसूत्र १।१।२२।

स्याद्वाद मजरी मे मल्लिषेण ने लिखा है—न्याय-वैशेपिको के मोक्ष की अपेक्षा तो सासारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, चूंकि सासारिक जीवन मे तो कभी-कभी सुख मिलता भी है, पर न्याय-वैशेपिको के मोक्ष मे तो सुख का पूर्ण अभाव है।[1]

कर्मयोगी श्रीकृष्ण का एक भक्त तो न्याय-वैशेपिको के मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन मे सियार वनकर रहना अधिक पसन्द करता है।[2] श्री हर्ष भी उपहास करते हुए उनके मोक्ष को पाषाण के समान अचेतन और आनन्दरहित वताते हैं।[3]

न्याय-वैशेषिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी, मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए ही प्रयत्न करता है। ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है। मोक्ष स्थिति मे भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नही है। उनके मन्तव्यानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य, ज्ञान, सुख रहित केवल द्रव्य रूप से आत्मतत्त्व की अवस्थिति है।

सांख्य और योगदर्शन

साख्य और योग ये दोनो पृथक्-पृथक् दर्शन हैं, पर दोनो मे अनेक वातो मे समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धान्त के ये दो पहलू हैं। एक सैद्धान्तिक, तो दूसरा व्यावहारिक है। साख्य तत्त्व मीमांसा की समस्याओ पर चिन्तन करता है तो योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनो पर वल देता है।

साख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैत का प्रतिपादन करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनो एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनो की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति जव पुरुष के सान्निध्य मे आती है तो उस साम्यावस्था मे विकार उत्पन्न होते है जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। ससार के सभी जड पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होते है पर प्रकृति स्वय किसी से उत्पन्न नही होती। ठीक इसके विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न स्वय वह किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न है। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड, चेतना या चैतन्य मात्र है। वन्ध और मोक्ष ये दोनो वस्तुत प्रकृति की अवस्था हैं।[4] इन अवस्थाओ का पुरुष मे आरोप या उपचार किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश मे उडान भरते हुए पक्षी का प्रतिविम्व निर्मल जल मे गिरता है, जल मे जो दिखायी देता है, वह केवल प्रतिविम्व है, वैसे ही प्रकृति के वध और मोक्ष पुरुष मे प्रतिविम्वित होते हैं।

---

1 स्याद्वाद मजरी, पृष्ठ ६३।

2 'वर वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छित स्याद्वाद मजरी मे उद्धृत पृष्ठ ६३।

3 भारतीय दर्शन मे मोक्ष चिन्तन . एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० अशोक कुमार लाड।

4 साख्यकारिका ६२।

साख्य और योग पुरुप को एक नही अनेक मानता है, यह जो अनेकता है वह सख्यात्मक है, गुणात्मक नही है। एकात्मवाद के विरुद्ध उसने यह आपत्ति उठायी है कि यदि पुरुप एक ही है तो एक पुरुप के मरण के साथ सभी का मरण होना चाहिए। इसी प्रकार एक के बन्ध और मोक्ष के साथ सभी का बन्ध और मोक्ष होना चाहिए। इसलिए पुरुप एक नही, अनेक है। न्याय-वैशेपिको के समान वे चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म नही मानते। चेतना पुरुप का सार है। पुरुप चरम ज्ञाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुप, वैष्णव-वेदान्तियो की आत्मा, जैनियो के जीव और लाई-वनित्स के चिद् अणु के सदृश है।

साख्य दृष्टि से बन्धन का कारण अविद्या या अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुप अपने स्वरूप को विस्मृत होकर स्वय को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सबसे वडा अज्ञान है। जब पुरुप और प्रकृति के बीच विवेक जा्रत होता है—"मैं पुरुष हूँ, प्रकृति नही," तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

कपिल मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे विशेप चर्चा नही करते। वे तथागत बुद्ध के समान सासारिक दु खो की उत्पत्ति और उसके निवारण का उपाय बतलाते है किन्तु कपिल के पश्चात् उनके शिष्यो ने मोक्ष मे स्वरूप के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है। बन्धन का मूल कारण यह है—पुरुप स्वय के स्वरूप को विस्मृत हो गया। प्रकृति या उसके विकारो के साथ उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया है, यही बन्धन है। जब सम्यग्ज्ञान से उसका वह दोषपूर्ण तादात्म्य का भ्रम नष्ट हो जाता है तब पुरुष प्रकृति के पजे से मुक्त होकर अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। साख्यदर्शन मे मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

साख्य दृष्टि से पुरुप नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय होने से पहले भी वह मुक्त था, विवेक ज्ञान का उदय होने पर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बन्धन मे नही पडा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, पर उसे प्रस्तुत तथ्य का परिज्ञान न होने से वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वय को प्रकृति या उसका विहार समझ रहा था। कैवल्य और कुछ भी नही उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

साख्य-योगसम्मत मुक्ति-स्वरूप मे एव न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्ति-स्वरूप मे यह अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा मे आत्मा अपना द्रव्यरूप होने पर भी वह चेतनामय नही है। मुक्ति दशा मे चैतन्य के स्फुरणा या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहार को अवकाश नही है। मुक्ति मे बुद्धि, सुख आदि का आत्यन्तिक उच्छेद होकर आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्यरूप से अस्तित्व धारण करता है। साख्य-योग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, स्वत प्रकाशमान चेतना रूप है और सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा मे चैतन्य और ज्ञान का

अभाव है तो साख्य-योग की दृष्टि मे उसका सद्भाव है। यह दोनो मे बहुत बडा अन्तर है किन्तु जब हम दोनो पक्षो की पारिभाषिक प्रक्रिया की ओर ध्यान केन्द्रित करते है तो तात्त्विक दृष्टि से दोनो पक्षो की मान्यता मे विशेष कोई महत्त्व का अन्तर नही है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने शरीर, इन्द्रिय आदि सम्बन्धो की दृष्टि से बुद्धि, सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष आदि गुणो का मोक्ष मे आत्यन्तिक उच्छेद माना है और ससार दशा मे वे उन गुणो का अस्तित्व आत्मा मे स्वीकारते हैं। साख्य और योग दर्शन सुख-दु ख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष आदि भाव पुरुष मे न मानकर अन्त करण के परिणाम रूप मानते है और उसकी छाया पुरुप मे गिरती है, वही आरोपित ससार है। एतदर्थ वे मुक्ति की अवस्था मे जव सात्त्विक बुद्धि का उसके भावो के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक विलय होता है तव पुरुप के व्यवहार मे सुख-दु ख, इच्छा, द्वेप प्रभृति भावो की ओर कर्तृत्व की छाया का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। साख्य-योग आत्म-द्रव्य के गुणो का उपादान कारणत्व स्वीकार कर उस पर चिन्तन करता है। वह द्रव्य और गुण के भेद को वास्तविक मानता है। जवकि न्याय-वैशेषिक पुरुषो मे ऐसा कुछ भी न मानकर प्रकृति के प्रपच द्वारा ही ये सभी विचार-व्यवहार होते है—ऐसे भेद को वह आरोपित गिनता है।

चौवीस तत्त्ववादी प्राचीन साख्य परम्परा की वन्ध मोक्ष प्रक्रिया पच्चीस तत्त्ववादी साख्य परम्परा से पृथक है। वह मोक्ष अवस्था मे वुद्धि सत्त्व और उसमे समुत्पन्न होने वाले सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान-अज्ञान प्रभृति भावो का मूल कारण प्रधान मे आत्यन्तिक विलय मानकर मुक्ति स्वरूप का वर्णन करता है किन्तु वह यो नही कहता कि मुक्त आत्मा यानि चेतना, चूंकि प्रस्तुत वाद मे प्रकृति से भिन्न है, अत ऐसी चेतना को अवकाश नही है। चौवीस तत्त्ववादी साख्य और न्याय-वैशेषिक की विचार-धारा मे वहुत अधिक समानता है। प्रथम पक्ष की दृष्टि से मोक्ष अवस्था मे प्रकृति के कार्य प्रपच का अत्यन्त विलय होता है और द्वितीय पक्ष मुक्ति दशा मे आत्मा के गुण प्रपच का अत्यन्त अभाव स्वीकार करता है। प्रथम ने जिसे कार्यप्रपच कहा है उसे ही दूसरे ने गुणप्रपच कहा। दोनो के आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे यत्किंचित् अन्तर है, वह केवल परिणामीनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्व के एकान्तिक परिभाषा भेद के कारण से है।

ज्ञान, सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष प्रभृति गुणो का उत्पाद और विनाश वस्तुत आत्मा मे होता है। यह मानने पर भी न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को कुछ अवस्थान्तर के अतिरिक्त अर्थ मे कूटस्थनित्य वर्णित करता है। यह कुछ विचित्र-सा लगता है पर उसका रहस्य उसके भेदवाद मे सन्निहित है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने गुण-गुणी मे अत्यन्त भेद माना है। जव गुण उत्पन्न होते हैं या नष्ट होते हैं तव उसके उत्पाद और विनाश का स्पर्श उसके आधारभूत गुणी द्रव्य को नही होता। जो यह अवस्थाभेद है वह गुणी का नही, अपितु गुणो का है। इसी प्रकार वे आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, वद्ध या मुक्त वास्तविक रूप मे स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त अवस्था-भेद की आपत्ति युक्ति-प्रयुक्ति से पृथक कर कूटस्थनित्यत्व की मान्यता से चिपके रहते है। साख्य-योग दर्शन न्याय-वैशेषिक के समान गुण-गुणी का भेद नही मानता है। न्याय-वैशेषिक के समान गुणो का उत्पाद-विनाश मानकर पुरुष के कूटस्थनित्यत्व का रक्षण नही किया जा सकता, अत उसने निर्गुण पुरुष मानने की पृथक राह अपनायी।[1]

उन्होने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, वध, मोक्ष आदि अवस्थाएँ पुरुप मे उपचरित मानी है और कूटस्थनित्यत्व पूर्ण रूप से घटित किया है।

केवलाद्वैती शकर या अणुजीववादी रामानुज तथा वल्लभ ये सभी मुक्ति दशा मे चैतन्य और आनन्द का पूर्ण प्रकाश या आविर्भाव अपनी-अपनी दृष्टि से स्वीकार कर कूटस्थनित्यता घटित करते है। एक दृष्टि से देखें तो औपनिपद् दर्शन की कल्पना न्याय-वैशेषिक दर्शन के साथ उतनी मेल नही खाती जितनी साख्य-योग के साथ मेल खाती है। सभी औपनिपद् दर्शन मुक्ति अवस्था मे साख्य-योग के समान शुद्ध चेतना रूप मे ब्रह्म तत्त्व या जीव तत्त्व का अवस्थान स्वीकार करते हैं।[2]

बौद्धदर्शन

अन्य दर्शनो मे जिसे मोक्ष कहा है उसे वौद्ध दर्शन ने निर्वाण की सज्ञा प्रदान की है। वुद्ध के अभिमतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अथवा निर्वाण है। क्योकि समस्त दृश्य सत्ता अनित्य है, क्षणभगुर है, एव अनात्म है, एक मात्र निर्वाण ही साध्य है।[3] निर्वाण वौद्ध दर्शन का महत्त्वपूर्ण शव्द है। प्रो० मूर्ति ने वौद्ध दर्शन के इतिहास को निर्वाण का इतिहास कहा है।[4] प्रो० यदुनाथ सिन्हा निर्वाण को वौद्ध शीलाचार का मूलाधार मानते हैं।[5]

अभिधम्म महाविभापा शास्त्र मे निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ वतायी हैं। जैसे 'वाण' का अर्थ 'पुनर्जन्म का रास्ता' और 'निर्' का अर्थ छोडना है, अत 'निर्वाण' का अर्थ हुआ स्थायी रूप से पुनर्जन्म के सभी रास्तो को छोड देना।

'वाण' का दूसरा अर्थ दुर्गन्ध और निर् का अर्थ 'नही' है, अत. निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जो दु ख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है।

वाण का तीसरा अर्थ घना जगल है और निर् का अर्थ स्थायी रूप से छुटकारा पाना।

---

1 गीता १३।३१-३२।
2 अध्यात्म विचारणा के आधार से पृ० ८४।
3 भारतीय दर्शन—डॉ० वलदेव उपाध्याय।
4 हिस्ट्री ऑफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, वा० पृ० २१२।
5 हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ३२८।

'वाण' का चतुर्थ अर्थ बुनना है और निर् का अर्थ नही है अत निर्वाण ऐसी स्थिति है जो सभी प्रकार के दु ख देने वाले कर्मो रूपी धागो से जो जन्म-मरण का धागा बुनते हैं उनसे पूर्ण मुक्ति है ।[1]

पाली टेक्स्ट सोसाइटी द्वारा प्रकाशित पाली-अग्रेजी शब्द कोष मे 'निव्वान' शब्द का अर्थ बुझ जाना किया है। अमर कोष मे भी यही अर्थ प्राप्त होता है ।

रीज डेविड्स थामस, आनन्दकुमारस्वामी, पी० लक्ष्मी नरसु, दाहलमेन, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रो० जे० एन० सिन्हा, डॉ० सी० डी० शर्मा प्रभृति अनेक विज्ञो का यह पूर्ण निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तित्व का उच्छेद नही है अपितु यह नैतिक पूर्णत्व की ऐसी स्थिति है जो आनन्द से परिपूर्ण है ।

डॉ० राधाकृष्णन् लिखते है—निर्वाण न तो शून्य रूप है और न ही ऐसा जीवन है जिसका विचार मन मे आ सके, किन्तु यह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्यभाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नही करते है ।[2]

बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षय है परन्तु यह पूर्ण क्षय आत्मा का नही है । यह क्षय लालसा, तृष्णा, जिजीविषा एव उनकी तीनो जड़ें राग, जीवन धारण करने की इच्छा और अज्ञान का है ।[3]

प्रो० मेक्समलूर लिखते है कि यदि हम धम्मपद के प्रत्येक श्लोक को देखें जहाँ पर निर्वाण का शब्द आता है तो हम पायेंगे कि एक भी स्थान ऐसा नही जहाँ पर उसका अर्थ उच्छेद होता है । सभी स्थान नही तो बहुत अधिक स्थान ऐसे हैं जहाँ पर हम निर्वाण शब्द का उच्छेद अर्थ ग्रहण करते हैं तो वे पूर्णत अस्पष्ट हो जाते हैं ।[4]

राजा मिलिन्द की जिज्ञासा पर नागसेन ने विविध उपमाएँ देकर निर्वाण की समृद्धि का प्रतिपादन किया है । जिससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का निर्वाण न्याय-वैशेषिको के मोक्ष के समान केवल एक निषेधात्मक स्थिति नही है ।

तथागत बुद्ध ने अनेक अवसरो पर निर्वाण को अव्याकृत कहा है । विचार और वाणी द्वारा उसका वर्णन नही किया जा सकता । प्रसेनजित् के प्रश्नो का उत्तर

---

1 सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृ० ३१ ।

2 भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४११-१४ ।

3 (क) धम्मपद १५४ ।
(ख) देखें —सयुक्त निकाय के ओघतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त, सयोजन सुत्त तथा बन्धन सुत्त ।

4 एन के भगत · पटना युनिवर्सिटी रीडरशिप लेक्चर्स, १६२४-२५, पृ० १६५ ।

देती हुई खेमा भिक्षुणी ने[1] कहा—"जैसे गगा नदी के किनारे पडे हुए रेत के कणों को गिनना कथमपि सम्भव नही है, या सागर के पानी को नापना सम्भव नही है, उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता को नापा नही जा सकता।"

बुद्ध के पश्चात् उनके अनुयायी दो भागो मे बँट गये, जिन्हे हीनयान और महायान कहा जाता है। अन्य सिद्धान्तो के साथ उनके शिष्यो मे इस सम्बन्ध मे मतभेद हुआ कि हमारा लक्ष्य हमारा ही निर्वाण है या सभी जीवो का निर्वाण है? बुद्ध के कुछ शिष्यो ने कहा – हमारा लक्ष्य केवल हमारा ही निर्वाण है। दूसरे शिष्यो ने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा—हमारा लक्ष्य जीवन मात्र का निर्वाण है। प्रथम को द्वितीय ने स्वार्थी कहा और उनका तिरस्कार करने के लिए उनको हीनयान कहा, और अपने आपको महायानी कहा। स्वय हीनयानी इस बात को स्वीकार नही करते, वे अपने आपको थेरवादी (स्थविरवादी) कहते है।

सक्षेप मे सार यह है कि बुद्ध ने स्वय निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध मे अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नही किया, जिसके फलस्वरूप कतिपय विद्वानो ने निर्वाण को शून्यता के रूप मे वर्णन किया है तो कतिपय विद्वानो ने निर्वाण को प्रत्यक्ष आनन्द-दायक बताया है।[2]

जैन दर्शन

वैदिक दर्शन और बौद्ध दर्शन मे जिस प्रकार मोक्ष और निर्वाण के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं, वैसे जैन दर्शन मे किसी भी सम्प्रदाय मे मतभेद नही है। मेरी दृष्टि से इसका मूल कारण यह है कि वेदो के मोक्ष मे सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही की गयी और वैदिक आचार्यों ने उसे आधार बनाकर और अपनी कमनीय कल्पना की तूलिका से उसके स्वरूप का चित्रण किया है।

बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने आपको सर्वज्ञ नही कहा है। उन्होने अपने शिष्यो को यह आदेश दिया कि तुम मेरे कथन को भी परीक्षण-प्रस्तर पर कसकर देखो कि वस्तुत वह सत्य-तथ्ययुक्त है या नही, किन्तु भगवान महावीर ने अपने आपको सर्वज्ञ बताया और सर्वज्ञ के वचनो पर पूर्ण विश्वास रखने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। जिसके कारण जैनधर्म मे श्रद्धा की प्रमुखता रही। सर्वज्ञ के वचन के विपरीत तर्क करना बिलकुल ही अनुचित माना गया, जिससे तत्त्वो के सम्बन्ध मे या मोक्ष के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का मतभेद नही हो सका।

जैनदर्शन परिणामीनित्यता के सिद्धान्त को मान्य करता है किन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त साख्य-योग के समान केवल जड अर्थात् अचेतन तक ही सीमित नही है।

---

1 सयुक्त निकाय खेमाथेरी सुत्त।

2 भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ४१६-१७, (डॉ० राधाकृष्णन)।

उसका यह वज्र आघोष है कि चाहे जड हो या चेतन सभी परिणामी नित्य है। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसके साथ होने वाली शक्तियो (गुण-पर्यायो) को भी व्याप्त करती है।

जैन-दर्शन आत्म-द्रव्य को न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक नही मानता और रामानुज के समान आत्मा को अणु भी नही मानता, किन्तु वह आत्म-द्रव्य को मध्यम परिणामी मानता है। उसमे सकोच और विस्तार दोनो गुण रहे हुए है, जो जीव एक विराट्काय हाथी के शरीर मे रहता है वही जीव एक नन्ही-सी चीटी मे भी रहता है। द्रव्य रूप से जीव शाश्वत है किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओ मे परिवर्तन होता है। परिणामी सिद्धान्त को मानने के कारण जैन-दर्शन ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीव का होता है।[1]

स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा मे जो सकोच और विस्तार होता है वह कर्मजन्य शरीर के कारण से है। मुक्तात्माओ मे शरीराभाव होने से उनमे सकोच और विस्तार नही हो सकता। मुक्तात्माओ मे जो आकृति की कल्पना की गयी है वह अन्तिम शरीर के आधार से की गयी है। मुक्त जीव मे रूपादि का अभाव है तथापि आकाश प्रदेशो मे जो आत्म प्रदेश ठहरे हुए है उस अपेक्षा से आकार कहा है।

जैन-दर्शन की प्रस्तुत मान्यता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मान्यता से पृथक् है। यह जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसका मूल कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं तो कितने ही दर्शन आत्मा को अणु मानते है। इस कारण मोक्ष मे आत्मा का परिणाम क्या है उसे वे स्पष्ट नही कर सके हैं, किन्तु जैन-दर्शन की मध्यम परिणाम की मान्यता होने से मुक्ति दशा मे आत्मा के परिणाम के सम्बन्ध मे एक निश्चित मान्यता है।

जैन-दर्शन के अनुसार मुक्त आत्म-द्रव्य मे सहभू-चेतना, आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत होकर पूर्ण विशुद्ध रूप से ज्ञान, सुख आदि रूप मे प्रतिपल प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है, वह मात्र कूटस्थनित्य नही अपितु शक्ति रूप से नित्य होने पर प्रति समय होने वाले नित्य नूतन सदृश परिणाम प्रवाह के कारण परिणामी है। यह जैन-दर्शन का मोक्षकालीन आत्मस्वरूप अन्य दर्शनो से अलग-थलग है। उसमे अन्य दर्शनो के साथ समानता भी है। द्रव्य रूप से स्थिर रहने के सम्बन्ध मे न्याय-वैशेषिक दर्शनो के साथ इसका मेल बैठता है और साख्य-योग एव अद्वैत दर्शनो के साथ सहभू-गुण की अभिव्यक्ति या प्रकाश सम्बन्ध मे समानता है। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध शाखा के ग्रन्थो से यह बहुत स्पष्ट रूप से फलित नही होता, तथापि यह ज्ञात होता है कि वह मूल मे क्षणिकवादी होने से मुक्तिकाल मे आलय विज्ञान को विशुद्ध मानकर

---

1 उत्तराध्ययन, ३६।६५।

उसका निरन्तर क्षण प्रवाह माने तभी बौद्ध दर्शन की मोक्षकालीन मान्यता सगत बैठ सकती है। यदि वे इस प्रकार मानते है तो जैनदर्शन की मान्यता के अत्यधिक सन्निकट है।

मुक्त ब्रह्मभूत या निर्वाण-प्राप्त आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे चिन्तन के पश्चात् यह प्रश्न है कि विदेह मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा कौन-से स्थान पर रहता है क्योकि चेतन या अचेतन जो द्रव्य रूप है उसका स्थान अवश्य होना चाहिए।

दार्शनिको ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मान्यता भेद होने से विविध दृष्टियो से दिया है।

न्याय-वैशेषिक, साख्य और योग जिस प्रकार आत्मा को व्यापक मानते है उसी प्रकार अनेक आत्मा मानते है, वे आत्म-विभुत्ववादी भी है और आत्म बहुत्ववादी भी हैं। उनकी दृष्टि से मुक्त अवस्था का क्षेत्र सासारिक क्षेत्र से पृथक नही है। मुक्त और ससारी आत्मा मे अन्तर केवल इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ लगा था, जिसके परिणामस्वरूप नित्य-नूतन स्थूल शरीर धारण करना पडता था, उसका सदा के लिए सम्बन्ध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परम्परा भी नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न होकर मुक्ति दशा मे भी अपने-अपने भिन्न स्वरूप मे सर्वव्यापी है।

केवलाद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते है किन्तु न्याय-वैशेषिक, साख्य और योग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नही मानते। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्त करण का सर्वथा नष्ट होना, उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथकता प्रतिभासित होती थी, वह नही होती। तत्त्व रूप से जीव ब्रह्म स्वरूप ही था, उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्म स्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और ससारी आत्मा मे अन्तर यही है कि एक मे उपाधि है, दूसरे मे नही है। उपाधि के अभाव मे परस्पर भेद नही है, वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव परम्पराओ की कल्पनाएँ पृथक-पृथक है। रामानुज विशिष्टाद्वैती है। वे वस्तुत जीव-बहुत्व को मानते है किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नही है। जब जीवात्मा मुक्त होता है तब वासुदेव के धाम वैकुण्ठ या ब्रह्मलोक मे जाता है, वह वासुदेव के सान्निध्य मे उसके अश रूप से उसके सदृश होकर रहता है।

मध्व जो अणुजीववादी है वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते है। किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान मे अर्थात् लोक विशेष मे कल्पित करते है।

शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणुजीववादी है किन्तु साथ ही वे परब्रह्म परिणामवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होने पर अक्षर

ब्रह्म मे एक रूप हो जाते हैं और दूसरे पुष्टि भक्ति जीव ऐसे हैं जो परब्रह्म स्वरूप होने पर भी भक्ति के लिए पुन अवतीर्ण होने है और मुक्तवत् ससार मे विचरण करते है ।

बौद्ध दृष्टि से

बौद्ध दर्शन की दृष्टि से जीव या पुद्गल कोई भी शाश्वत द्रव्य नहीं हैं, अत पुनर्जन्म के समय वे जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नही मानते है । उनका अभिमत यह है कि एक स्थान पर एक चित्त का निरोध होना है और दूसरे स्थान पर नये चित्त की उत्पत्ति होती है ।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से प्रश्न किया कि पूर्वादि दिशाओ मे ऐसा कौन-सा स्थान विशेष है जिसके सन्निकट निर्वाण स्थान की अवस्थिति है ?

आचार्य ने कहा—निर्वाण स्थान कही किसी दिशा विशेष मे अवस्थित नही है, जहाँ पर जाकर वह मुक्तात्मा निवास करती हो ।

प्रतिप्रश्न किया गया—जैसे समुद्र मे रत्न, फूल मे गन्ध, खेत मे धान्य आदि का स्थान नियत है वैसे ही निर्वाण का स्थान भी नियत होना चाहिए । यदि निर्वाण का स्थान नही है तो फिर यह क्यो नही कहते कि निर्वाण भी नही है ।

नागसेन ने कहा—राजन् ! निर्वाण का नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है । निर्वाण कही पर बाहर नही है । उसका साक्षात्कार अपने विशुद्ध मन से करना पडता है । जैसे दो लकडियो के सघर्ष से अग्नि पैदा होती है । यदि कोई यह कहे कि पहले अग्नि कहाँ थी तो यह नही कहा जा सकता वैसे ही विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार होता है, किन्तु उसका स्थान बताना सम्भव नही ।

राजा ने पुन प्रश्न किया—हम यह मानले कि निर्वाण का नियत स्थान नही है, तथापि ऐसा कोई निश्चित स्थान होना चाहिए जहाँ पर अवस्थित रहकर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके ।

आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—राजन् ! पुद्गल शील मे प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश मे रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है ।[1]

जैन दर्शन

जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ।[2] जब वह कर्मों से पूर्ण मुक्त होता है तब वह ऊर्ध्वगमन करता है और ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर

---

1 मिलिन्द प्रश्न ४।८।९२-९४ ।

2 (क) उत्तराध्ययन १९।८२ ।
(ख) प्रशमरति प्रकरण २९४ का भाष्य ।
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक

अवस्थित होता है क्योकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अत' वह आगे जा नही सकते। वह लोकाग्रवर्ती स्थान सिद्धाशिला के नाम से विश्रुत है। जैन साहित्य मे सिद्धशिला का विस्तार से निरूपण है, वैसा निरूपण अन्य भारतीय साहित्य मे नही है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन दृष्टि से मानव लोक ४५ लाख योजन का माना गया है तो सिद्ध क्षेत्र भी ४५ लाख योजन का है। मानव चाहे जिस स्थान पर रहकर साधना के द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष आत्मा का पूर्ण विकास है और पूर्ण रूप से दुख-मुक्ति है।

मोक्ष-मार्ग

अब हमे मोक्ष-मार्ग पर चिन्तन करना है। जिस प्रकार चिकित्सा पद्धति मे रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैपज्य— इन चार वातो का ज्ञान परमावाश्यक है।[1] वैसे ही आध्यात्मिक साधना पद्धति मे (१) ससार, (२) ससार-हेतु, (३) मोक्ष, (४) मोक्ष का उपाय, इन चार का ज्ञान परमावश्यक है।[2]

वैदिक परम्परा का वाङ्मय अत्यधिक विशाल है। उसमे न्याय, वैशेपिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा, प्रभृति अनेक दार्शनिक मान्यताएँ हैं। किन्तु उपनिषद् एव गीता ऐसे ग्रन्थरत्न हैं जिन्हे सम्पूर्ण वैदिक परम्पराएँ मान्य करती हैं। उन्ही ग्रन्थो के चिन्तन-सूत्र के आधार पर आचार्य पतजलि ने साधना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसमे हेय[3], हेयहेतु[4], हान[5], और हानोपाय[6], इन बातो पर विवेचन किया है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इन चार बातो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला है।[7]

तथागत वुद्ध ने इन चार सत्यो को आर्य सत्य कहा है: (१) दुख (हेय) (२) दुख समुदय (हेयहेतु) (३) दुख निरोध (हान) (4) दुखनिरोधगामिनी प्रतिपद् (हानोपाय)।[8]

---

1 चरकसहिता स्थान अ० श्लो० १२८-३०।

2 योगदर्शन भाष्य २१-१५।

3 योग दर्शन साधना पाद १६।

4 वही० १७।

5 वही० २५।

6 वही० २८।

7 न्याय भाष्य १।१।१।

8 मज्झिमनिकाय—भयभेख मुत्त ४

जैन दर्शन ने इन चार सत्यो को (१) बन्ध (२) आस्रव (३) मोक्ष (४) सवर के रूप मे प्रस्तुत किया है।

बन्ध—शुद्ध चैतन्य के अज्ञान से राग-द्वेष प्रभृति दोषो का परिणाम है, इसे हम हेय अथवा दु ख भी कह सकते हैं।

आस्रव का अर्थ है जिन दोषो मे शुद्ध चैतन्य बधता है या लिप्त होता है, इसे हम हेयहेतु या दु ख समुदय भी कहते है।

मोक्ष का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्म का वियोग। इसे हम हान या दु खनिरोध कह सकते है।

सवर—कर्म आने के द्वार का रोकना यह मोक्ष मार्ग है। इसे हम हानोपाय या निरोध मार्ग भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओ ने चार सत्यो का माना है। सक्षेप मे चार सत्य भी दो मे ही समाविष्ट किये जा सकते है

(१) वध, जो दु ख या ससार का कारण है, और (२) उस बध को नष्ट करने का उपाय।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधना मे ससार का मुख्य कारण अविद्या माना है। अविद्या से ही अन्य राग-द्वेष, कषाय-क्लेश आदि समुत्पन्न होते हैं। आचार्य पतजलि ने अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशो का निर्देश कर अविद्या मे सभी दोषो का समावेश किया है। उन्होने अविद्या को सभी क्लेशो की प्रसव भूमि कहा है।[1] इन्ही पाँच क्लेशो को ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका मे पाँच विपर्यय के रूप मे चित्रित किया है।[2] महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप मे बताकर उसके कार्य के रूप मे अन्य दोषो का सूचन किया है।[3] अक्षपाद अविद्या के स्थान पर "मोह" शब्द का प्रयोग करते है। मोह को उन्होने सभी दोषो मे मुख्य माना है। यदि मोह नही है तो अन्य दोषो की उत्पत्ति नही होती।[4]

कठोपनिषद्[5], श्रीमद्भगवद्गीता[6] और ब्रह्मसूत्र मे भी अविद्या को मुख्य दोष माना है।

---

1 योग दर्शन २।३-४।

2 साख्यकारिका ४७-४८।

3 देखिये—प्रशस्तपाद भाष्य, ससारापवर्ग।

4 (क) न्याय सूत्र ४।१।३, न्याय सूत्र ४।१।६।
(ख) न्याय सूत्र का भाष्य भी देखें।

5 कठोपनिषद् १।२।५।

6 श्रीमद्भगवद्गीता ५।१५।

मज्झिमनिकाय आदि ग्रन्थो मे तथागत बुद्ध ने ससार का मूल कारण अविद्या को बताया है। अविद्या होने से ही तृष्णादि दोष समुत्पन्न होते है।[1]

जैन-दर्शन ने ससार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह को माना है। अन्य दार्शनिको ने जिसे अविद्या, विपर्यय, मोह या अज्ञान कहा है उसे ही जैन दर्शन ने दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन के नाम से अभिहित किया है। अन्य दर्शनो ने जिसे अस्मिता, राग, द्वेप या तृष्णा कहा है—उसे जैन दर्शन ने चारित्रमोह या कपाय कहा है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा ससार का मूल अविद्या या मोह का समावेश उसमे करती है।

ससार का मूल अविद्या है तो उससे मुक्त होने का उपाय विद्या है। एतदर्थ कणाद ने विद्या का निरूपण किया है। पतजलि ने उस विद्या को विवेकख्याति कहा है। अक्षपाद ने विद्या और विवेक ख्याति के स्थान पर तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान पद का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य मे उसके लिए मुख्य रूप से 'विपस्सना' या 'प्रज्ञा'[2] शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैन दर्शन मे भी सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनो की परम्पराएँ विद्या, तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, आदि से अविद्या या मोह का नाश मानती है और उससे जन्म परम्परा का अन्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अविद्या का अर्थ है अपने निज स्वरूप के ज्ञान का अभाव। आत्मा, चेतन या स्वरूप का अज्ञान की मूल अविद्या है। यही ससार का मूल कारण है।

वैदिक परम्परा ने साधना के विविध रूपो का वर्णन किया है किन्तु सक्षेप मे गीता मे ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनो अगो पर प्रकाश डाला है।

तथागत बुद्ध ने (१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि को आर्य अष्टागिक मार्ग कहा है[3] और मार्गों मे उसे श्रेष्ठ बताया है।[4] बुद्धघोप ने सक्षेप मे उसे शील, समाधि और प्रज्ञा कहा है।[5]

जैन दर्शन ने[6] साधना के मार्ग पर गहराई से अनुचिन्तन करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा है। कही पर उसमे तप का भी

---

1 मज्झिमनिकाय महा तन्हा सखय सुत्त ३८।

2 विशुद्धि मग्ग १।७।

3 मज्झिमनिकाय सम्मादिट्ठि सुत्तन्त ६।

4 मग्गान अटठ्गिको सेट्ठो।

5 विशुद्धि मार्ग।

6 तत्त्वार्थ सूत्र १।१।

समावेश किया गया है[1] किन्तु जैन मुनियो ने तप का अन्तर्भाव चारित्र मे करके साधना के त्रिविध मार्ग को ही प्रमुखता प्रदान की है। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि त्रिविध मार्ग का ही विधान क्यो किया गया ? समाधान है—मानवीय चेतना के तीन पहलू है—ज्ञान, भाव और सकल्प। चेतना के इन तीनो पक्षो के विकास के लिए त्रिविध साधना है। भावात्मक पक्ष को सही दिशा प्रदान करने हेतु सम्यग्दर्शन है। ज्ञानात्मक पक्ष को सही दिशा सदर्शन के लिए सम्यग्ज्ञान का विधान है और सकल्पात्मक पक्ष को सही बोध प्रदान हेतु सम्यक्चारित्र का प्ररूपण किया गया है।

जैन दर्शन की तरह ही बौद्ध दर्शन मे भी त्रिविध साधना मार्ग का विधान किया है। उन्होंने शील, समाधि और प्रज्ञा[2] यह त्रिविध साधना मार्ग माना है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो सम्यग्दर्शन की तुलना समाधि से कर सकते हैं क्योकि समाधि और सम्यग्दर्शन दोनो मे सकल्प-विकल्प नही होते। सम्यग्ज्ञान की तुलना प्रज्ञा से की जा सकती है और सम्यक्चारित्र की तुलना शील से।

श्रीमद् भगवद्गीता मे ज्ञान, कर्म और भक्ति का निरूपण है। भक्ति मे श्रद्धा की प्रमुखता होती है इसलिए वह सम्यग्दर्शन का प्रतीक है। भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग को हम क्रमश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र कह सकते हैं।

वैदिक परम्परा के चिन्तको ने परम सत्ता के तीन पक्ष माने हैं—सत्य, शिव, सुन्दर। इन तीनो पक्षो के लिए त्रिविध साधना मार्ग का विधान है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म और सुन्दर की उपलब्धि के लिए भाव व श्रद्धा। गीता मे[3] प्रकारान्तर से प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा इन साधना मार्गो का भी उल्लेख है। इनमे प्रणिपात श्रद्धा, परिप्रश्न ज्ञान और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदो मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप मे त्रिविध साधना का उट्टकन है। श्रवण मे श्रद्धा, मनन मे ज्ञान और निदिध्यासन मे कर्म की प्रधानता है।

पाश्चात्य चिन्तको ने भी तीन नैतिक आदेश बताये हैं[4]—नो दाइसेल्फ, एक्सेप्ट दाइसेल्फ और बी दाईसेल्फ [अपने को जानो, अपने को स्वीकार करो, अपने मे बने रहो] ये तीन नैतिक आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष कहे जा सकते हैं। आत्म-ज्ञान मे ज्ञान, आत्म-स्वीकृति मे श्रद्धा और आत्म-निर्माण मे चारित्र की स्वीकृति है।

---

1 उत्तराध्ययन २८।२।

2 सुत्तनिपात २८।८।

3 गीता ४।४, ४।३६।

4 साइकोलजी एण्ड मारल्स, पृष्ठ १८०।

भारतीय चिन्तन मे कितने ही चिन्तको ने साधना के इन त्रिविध माध्यमो मे से किसी एक मार्ग को प्रमुखता दी है और उससे मुक्ति स्वीकार की है—जैसे आचार्य शंकर ने ज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया है, रामानुज आदि ने भक्ति-मार्ग को प्रमुखता दी है। पर जैन दार्शनिको ने किसी एकान्तवाद को स्वीकार नही किया। उनके अनुसार दर्शन के विना ज्ञान नही होता और ज्ञान के अभाव मे आचरण में निर्मलता नही आती और विना सम्यक्आचरण के मुक्ति नही है।

इसकी तुलना सुकरात, प्लेटो आदि ग्रीक दार्शनिको द्वारा उल्लिखित जीवन के तीन लक्ष्य—ट्रुथ (सत्य), ब्यूटी (सौन्दर्य) और गुडनेस (अच्छाई) के साथ की जा सकती है।

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान, भक्ति और कर्म, शील, समाधि और प्रज्ञा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्ष-मार्ग है। शब्दो मे अन्तर होने पर भी भाव सभी का एक जैसा है। शब्द-जाल मे न उलझकर सत्य तथ्य की ओर ध्यान दिया जाये तो भारतीय दर्शनो मे मोक्ष और मोक्ष-मार्ग की कितनी समानता है, यह सहज ही परिज्ञात हो सकेगा।

२
ईश्वर : एक चिन्तन

[प्रथम विभाग]

प्रास्ताविक

एक प्रश्न जीवन के उषाकाल से ही मानव मस्तिष्क मे घूम रहा है—ईश्वर है या नही ? यदि है तो उसका क्या रूप है ? विश्व के जितने भी चिन्तक और धर्म-गुरु हुए, उनके मस्तिष्क को यह प्रश्न झकझोरता रहा । जिस प्रकार यह प्रश्न सनातन काल से चला आ रहा है उसी प्रकार उसका उत्तर भी सनातन काल से दिया जाता रहा है । प्रत्येक चिन्तक ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार समाधान करने का प्रयास किया है ।

हम यहाँ पर सर्वप्रथम भारतीय चिन्तको की दृष्टि से ईश्वर का क्या स्वरूप रहा है ? और जन-मानस मे ईश्वर की क्या धारणा रही है ? इस पर चिन्तन करने के पश्चात् विश्व के विविध अंचलो मे फैले हुए प्राचीन तथा अर्वाचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान के आलोक मे ईश्वर का क्या रूप रहा, कालक्रम की दृष्टि से उसमे किस प्रकार परिवर्तन होते रहे ? उस पर विहगावलोकन करेंगे, जिससे कि ईश्वर के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट रूपरेखा परिज्ञात हो सके । आलोचना व प्रत्यालोचना कर जन-मानस को विक्षुब्ध करने का हमारा उद्देश्य नही है । हमारा उद्देश्य है कि मानव उदात्त दृष्टिकोण से अनेकान्त के आलोक मे सत्य तथ्य को समझें, किसी भी रूढिगत चिन्तन मे न उलझ कर खुले दिमाग से जिज्ञासु-बुद्धि से उस विचार करे । भगवान् महावीर ने साधको को यही प्रेरणा दी कि—"मैं कह रहा हूँ, इसीलिए तुम उसको स्वीकार न करो, किन्तु बुद्धि के जगमगाते आलोक मे सत्य को समझ कर उसे ग्रहण करो ।"

"पन्ना समक्खिए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं ।"

वेदो मे ईश्वर

आधुनिक मनीषियो का मन्तव्य है कि उपलब्ध विश्व-साहित्य मे ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे ईश्वर के सम्बन्ध मे चिन्तन प्रारम्भ हुआ । प्रारम्भिक युग मे प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा को निहार कर मानव प्रमुदित तथा उसके उग्र रूप को देखकर भयभीत हुआ । वह सोचने लगा—इस प्रकृति के पीछे कोई न कोई विशिष्ट दैवी-शक्ति है, जिसके कारण ही प्रतिपल-प्रतिक्षण नित्य नये दृश्य दिखायी

दे रहे हैं। सूर्य की चिलचिलाती धूप, उमड़-घुमड कर घनघोर गर्जना करने वाली मेघ-घटाएँ, चचल चपला की चमक, इन्द्रधनुष का सुहावना दृश्य, सध्या और उषा की सुहावनी सुषमा, चन्द्रमा की चारु चन्द्रिका, ग्रह-नक्षत्रो की जगमगाहट, समुद्र का गम्भीर गर्जन-तर्जन, सरिता का सरस सगीत, पक्षियो का कलरव, गगनचुम्वी पर्वत-मालाएँ, जाज्वल्यमान अग्नि, भीष्म ग्रीष्म की ऊष्मा, सनसनाती सर्दी, प्रलयकारी आँधी, शीतल मन्द सुगन्धित पवन, सुन्दर वृक्षावली, रग-विरगे विकसित पुष्प तथा अद्भुत पशु-पक्षियो को देखकर मानव विस्मय से विमुग्ध वन गया और उनमे दैवी-शक्ति का आरोप कर उसने उनकी स्तुतियाँ करना प्रारम्भ किया। ऋग्वेद मे द्यो, मरुत, इन्द्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, पर्जन्य प्रभृति मे ईश्वर की कल्पना कर उनकी स्तुतियाँ की गयी है। उसके पश्चात् अदिति, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि अमूर्त्त कल्पनाओ का दैवीकरण किया गया। वैदिक कालीन देव रहस्यमय, दिव्यता और भव्यता के पुनीत प्रतीक रहे हैं। उनके अन्तर्मानस मे दया की निर्मल भावना है, वे ससार का कल्याण करने के इच्छुक है। वे मानवो के उद्धार के लिए अवतार भी ग्रहण करते है। उनमे क्रूरता का पूर्ण अभाव है।

वैदिक परम्परा के ऋषि जव किसी भी देव की स्तुति करते हैं, तव उस देव को सर्वश्रेष्ठ और सर्वज्येष्ठ मानकर उसकी स्तुति करते है। इन्द्र की स्तुति करते समय इन्द्र को इतनी अधिक प्रधानता दी गयी है कि पाठक को यह अनुभव होने लगता है कि इन्द्र ही सव कुछ है। पर वही ऋषि जव अग्नि की स्तुति करता है तो अग्नि की गौरव-गरिमा मे ही उसके स्वर मुखरित होते है। जव वह वरुण या अन्य किसी स्तुति करता है तो उसी मे लीन हो जाता है। पर इसका यह अर्थ नही कि वह केवल इन्द्र को ही आधार मानता है, अग्नि को नही। वेद मे वहुदेववाद के साथ-साथ एकेश्वरवाद के वीज भी सन्निहित है, ऐसा वेद-साहित्य के मर्मज्ञो का मानना है।

ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मे भी देववाद की वे स्वर-लहरियाँ झनझनाती रही है।

वेदो के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थ आते है। उन ग्रन्थो मे देवी-देवताओ की सख्या मे अभिवृद्धि हुई। उन्होने ग्राम देवता, नगर देवता, वश देवता आदि को भी देव-कोटि मे रखा है। जातिभेद के अनुसार देवताओ के भी विभिन्न स्तर प्राप्त होते है।

उपनिषद् युग मे ईश्वर

उपनिषद् युग भारतीय चिन्तन के इतिहास मे एक नये युग का प्रतीक है। वैदिक विचारधारा श्रमण विचारधारा से प्रभावित हुई तब उपनिषद् युग मे वैदिक विचारधारा मे तीव्रता के साथ गम्भीरता, आध्यात्मिकता और तपश्चर्या आदि का समावेश हुआ। उपनिषद् वेदो के ही अन्तिम भाग माने जाते हैं। वेदो मे प्राकृतिक तत्वो की प्रधानता के आलोक मे चिन्तन होता रहा, जबकि उपनिषदो मे आत्म-तत्व के सम्वन्ध मे गम्भीर अनुचिन्तन प्रारम्भ हुआ। मानव बहिर्मुख से अन्तर्मुख

हुआ। उपनिषद् काल मे दार्शनिक चिन्तन मुख्य रूप से हुआ। परमतत्व के स्वरूप और उसकी उपलब्धि के सम्बन्ध मे विविध दृष्टियो से चिन्तन किया गया। हम यह कह सकते हैं कि सुदीर्घ काल तक ऋषि-मुनियो ने जो चिन्तन किया, उस चिन्तन को उपनिषदो मे मूर्त्त रूप दिया गया है। उपनिषद् युग मे ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड ये दोनो पृथक्-पृथक् हुए। इसके पूर्व ज्ञानकाण्ड यदि था तो वह नगण्य-सा था।

उपनिषद् युग मे वेदकालीन बहुदेवता सम्बन्धी जो विचार गहराई से पनप रहे थे उनके स्थान पर एक सर्वशक्तिमान, अनन्त, नित्य, अनिर्वचनीय, स्वयभू के रूप मे ईश्वर की कल्पना की गयी। वह स्वयभू विश्व का स्रष्टा, रक्षक और सहारकर्त्ता माना गया। उस स्वयभू का वर्णन करते हुए उपनिषद्कारो ने लिखा—वह ज्योतिर्मय है, विश्व का जीवन है, अद्वितीय है। वही एक अर्चनीय है।

बृहदारण्यकोपनिषद् मे याज्ञवल्क्य से पूछा गया—"देव कितने है?" उन्होंने उत्तर मे 'एक देव'[1] बताया।

पुन जिज्ञासा प्रस्तुत की गयी—अग्नि, वायु आदित्य, अन्न, रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनमे से सर्वश्रेष्ठ कौन है?

उत्तर मे उन्होंने कहा—"ये सभी मुख्य रूप से सबसे ऊँचे, अमर, निराकार ब्रह्म के ही विविध रूप है। मानव चाहे तो इन रूपो का भी ध्यान कर सकता है और चाहे तो इनका परित्याग भी कर सकता है।"[2]

ब्रह्म का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—ब्रह्म के बिना न आग जल सकती है और न वायु एक तृण को भी उडा सकती है। ब्रह्म के भय से ही आग जलती है, सूर्य चमकता है, वायु प्रवाहित होती है, मेघ बरसता है और सभी अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।[3] इस प्रकार एकेश्वरवाद की सस्थापना हुई।

उपनिषद् युग के अन्तिम चरण मे रुद्र और विष्णु, जो वेदकाल मे गौण देवता माने गये थे, उनका भी प्राबल्य बढा। ये देव पुराण युग मे शिव और विष्णु के रूप मे परम तत्व के स्थान पर प्रतिष्ठापित हुए। पर ब्रह्म तत्त्व एक होने पर भी विभिन्न नामो से वह जाना पहचाना गया।

---

1 बृहदारण्यकोपनिषद्, ३ ६-१।

2 (क) मैत्रायणी उपनिषद्, ४ ५-६।
(ख) मुण्डकोपनिषद् १-१-१।
(ग) तैत्तिरीय—१. ५।
(घ) बृहदारण्यक—१ ४-६, १ ४-७ तथा १ ४-१०।

3 तैत्तिरीयोपनिषद्।

पौराणिक युग मे ईश्वर

पौराणिक युग मे उस परब्रह्मतत्व की विविध नामो से उपासना प्रारम्भ हुई। इस प्रकार वैदिक काल से पुराणकाल तक ईश्वर सम्बन्धी जो चिन्तन हुआ और जो उसका स्वरूप निश्चित हुआ, उपर्युक्त पक्तियो मे सक्षेप मे उसकी झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

वैदिक साहित्य के आधार पर ईश्वर सम्बन्धी दिग्दर्शन के पश्चात् अब विभिन्न दर्शनशास्त्रो को भी टटोल लेना आवश्यक है। अतएव अब यह देखना है कि दर्शनशास्त्रो मे ईश्वर के विषय मे क्या अवधारणाएँ और मान्यताएँ हैं?

न्याय और वैशेषिक दृष्टि से ईश्वर

भारतीय दर्शनो मे न्याय और वैशेषिक दर्शन चेतन और अचेतन के सम्बन्ध मे बहुत्ववादी दृष्टिकोण रखते है। वैशेषिक दर्शन के आद्य प्रणेता कणाद ने ईश्वर के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से विचार चर्चा नही की है। किन्तु प्रशस्तपाद ने, जिन्होने वैशेषिक दर्शन पर भाष्य लिखा है, महेश्वर को सृष्टि के कर्त्ता और सहर्त्ता के रूप मे विस्तार से चित्रित किया है।[1] उन्होने अपने भाष्य मे यह भी बताया है कि महेश्वर शुभाशुभ कर्म के अनुसार सर्जन भी करता है और सहार भी करता है।

न्यायदर्शन के निर्माता 'गौतम' है। उनका अपर नाम 'अक्षपाद' भी हैं। उन्होने 'न्यायसूत्र' मे ईश्वर की चर्चा बहुत ही सक्षेप मे की है।[2] पर 'न्याय सूत्र' के भाष्यकार 'वात्स्यायन' ने ईश्वर की चर्चा बहुत ही विस्तार के साथ की है। भाष्य के समर्थ व्याख्याकार उद्द्योतकर और टीकाकार वाचस्पति मिश्र हैं, उन्होने प्रबल प्रमाण और तर्क देकर ईश्वर के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और कृतित्व की सस्थापना की।

वात्स्यायन, उद्द्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने केवल ईश्वर की सृष्टि के निर्माणकर्ता और नियन्ता के रूप मे ही सस्थापना नही की, अपितु उन्होने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ईश्वर जगत् को बनाने वाला है, किन्तु वह कर्म जीव सापेक्ष है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि कितने ही दार्शनिक चिन्तक ईश्वर को कर्त्ता मानते थे और उसकी सस्थापना करने के लिए वे प्रबल तर्क प्रदान करते थे। कोई अनुमान के आधार पर सिद्ध करते थे तो कितने ही दार्शनिक आगम के आधार को प्रमुखता देते थे। यदि उससे भी अपने मन्तव्य की पुष्टि नही

---

1 प्रशस्तपादभाष्यगत सृष्टि सहारप्रक्रिया।

2 ईश्वर कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।
न पुरुष कर्म्माभावे फलानिष्पत्ते तत्कारितत्वादहेतु।
—न्यायसूत्र–४, १, १६–२१

होती देखते तो अन्य साधक प्रमाणो को भी उपस्थित करते थे। नकुलीण, पाशुपत और शैवो मे इस विपय मे एकमत नही था। साराश यह है कि न्यायदर्शन मुख्य रूप से ईश्वर के कर्तृत्व-स्थापना के सम्बन्ध मे अनुमान पर आधृत है। इस सत्य-तथ्य को उद्द्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने भी स्वीकार किया है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने ईश्वर की एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप मे सस्थापना की और साथ ही उसे कर्ता और नियन्ता के रूप मे भी चित्रित किया है। इस सम्बन्ध मे अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण भी किया गया। न्याय और वैशेपिक दर्शन के चिन्तको मे 'उदयन' प्रवल प्रतिभा के धनी, विज्ञ थे। उन्होने ईश्वर की सस्थापना के लिए ही "न्याय कुसुमाजलि" ग्रन्थ की रचना की। उन्होने अपनी दृष्टि से अनीश्वरवादियो के तर्क का खण्डन किया है और महेश्वर को कर्ता और नियन्ता के रूप मे प्रस्तुत किया है।

साख्य और योग की दृष्टि से ईश्वर

भारतीय दर्शनो की परम्परा मे साख्य और योग दर्शन का भी अपना गौरव-पूर्ण स्थान है। साख्य और योग दर्शन के आद्य प्रवर्तक महर्षि कपिल और पतजलि माने जाते हैं। साख्य और योग दर्शन मे चौबीस या पच्चीस तत्व ही नही माने गये हैं, अपितु छब्बीस तत्व भी माने है। जैसे साख्य और योग मे स्वतन्त्र पुरुप-वहुत्व का स्थान है। स्वतन्त्र रूप से पुरुप विशेष ईश्वर का भी स्थान है। मूर्धन्य मनीषियो का अभिमत है कि पातजल सूत्र से पूर्व भी योग मार्ग के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ थे। वे हिरण्यगर्भ[1] या स्वयभू[2] से नाम से योग मार्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उस योग मार्ग मे ईश्वर का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्थान था। किन्तु पूर्ण निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि पुरुप विशेष रूप ईश्वर को केवल साक्षी, उपास्य या जप रूप मे ही वे मानते थे या न्याय, वैशेषिक दर्शन के समान ईश्वर को स्रष्टा, नियन्ता और सहर्ता के रूप मे मानते थे। वर्तमान मे पतजलि का जो योग-सूत्र उपलब्ध है उसके आधार से यह साधिकार कहा जा सकता है कि पहले योग परम्परा मे ईश्वर का स्थान साक्षी या उपास्य के रूप मे रहा है।[3] किन्तु इसके पश्चात् योग-सूत्र के भाष्यकार ने ईश्वर को पतितो के उद्धारक के रूप मे चित्रित किया है। भाष्यकार का मतव्य है कि ईश्वर भूतो पर अनुग्रह करता है और विश्व के समस्त प्राणियो को ज्ञान की निर्मल गंगा बहाकर और धर्म से जीवन को रग कर

---

1 Origin and Development of Samkhya System of Thought, p 49

2 Buddhist Logic, Vol I, pp 17-20

3 ईश्वर प्रणिधानाद्वा। —योगसूत्र–१, २३–६

जन-जन का उद्धार करता है। वह यह दृढ संकल्प करता है कि मैं प्राणियो का उद्धार करूँगा। प्रस्तुत सकल्प का मूल आधार है सत्त्व गुण की प्रकृष्टता।[1]

व्यास ने भाष्य मे यह स्पष्ट प्रतिपादन नही किया है कि वह पुरुष विशेष ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता और सहर्ता भी है। तथापि यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ने ईश्वर को प्राणियो का उद्धारकर्ता माना है। उसके पश्चात् भाष्य के आधार से व्याख्या करने वाले वाचस्पति मिश्र एव विज्ञानभिक्षु ने क्रमश तत्ववैशारदी और योगवार्तिक मे ये विचार स्पष्ट रूप से उट्टंकित किये हैं कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है। उनकी सस्थापना का मूल आधार आगम-प्रमाण है।

मध्व वेदान्त दर्शन मे द्वैत परम्परा के मूल प्रतिष्ठापक हैं, तथापि उनका दार्शनिक चिन्तन न्याय-वैशेषिक तत्वज्ञान से प्रभावित है। उन्होने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता के आधार पर भाष्य लिखकर अपने मौलिक विचारो की सस्थापना की। न्याय-वैशेषिक तत्त्व ज्ञान के प्रभाव के कारण मध्व की परम्परा अन्य वेदान्तियो से पृथक् प्रतीत होती है। उन्होने न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अचेतन परमाणु और चेतन जीव के वास्तविक वहुत्व के अतिरिक्त सर्वथा स्वतन्त्र ईश्वर की व्यक्ति के रूप मे सस्थापना की। उसमे ब्रह्म या विष्णु जैसे पद के द्वारा ईश्वर का निर्देश किया गया है। तथापि स्वरूप की दृष्टि से हम चिन्तन करें तो मध्व की परम्परा मे ईश्वर के स्वरूप का जो चित्रण हुआ है, वह चित्रण न्याय, वैशेषिक, साख्य और योग सदृश ही है। वह ईश्वर सृष्टि का कर्ता और सहर्ता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वर को प्राणि कर्म सापेक्ष्य कर्त्ता मानता है। वैसे मध्व भी मानता है, पर अन्तर यही है कि मध्व दर्शन ब्रह्मसूत्र के आधार से ईश्वर को ब्रह्म कहकर उसका विवेचन करता है, जबकि न्याय-वैशेषिक दर्शन ईश्वर की सस्थापना करने के लिए ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् आदि का आधार नही लेते। उपनिषद् का आधार होने के कारण ही उनका ईश्वर कर्तृत्ववाद आगम प्रमाण पर आधृत है।

पूर्वमीमासक, साख्य, बौद्ध और जैन दर्शन स्वतन्त्र जीव बहुत्ववादी है। पर वे दर्शन जीव से पृथक् किसी भी ईश्वर तत्व को सृष्टि का कर्त्ता और सहर्ता नही मानते।

ब्रह्मवादी दृष्टि से ईश्वर

मध्व के अतिरिक्त अन्य ब्रह्मवादी दर्शन सामान्य रूप से एक तत्ववादी हैं। वह एक तत्व साख्यदर्शनसम्मत प्रकृति या प्रधान नही अपितु उससे भिन्न ब्रह्मतत्व है। साख्य का प्रधान तत्व मूल मे अचेतन माना गया है तो ब्रह्मतत्व मूल मे चिद्रूप माना

---

1 (क) प्रकृष्ट सत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्ष।

—योगभाष्य, १—२४।

(ख) तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्॥

—योगभाष्य, १—२५।

है। ये दोनो विचारधाराएँ मूल मे एक तत्ववादी हैं, किन्तु अनुभवसिद्ध जड-चेतन वहुत्व का स्पष्टीकरण प्रधानवादी साख्यो ने प्रधान को स्वतन्त्र कर्ता का स्थान देकर और पुरुष वहुत्व स्वीकार करके वास्तविक वहुत्व की उपपत्ति की है और मूल एक ब्रह्मतत्ववादियो ने ब्रह्म को सहकारी उपाधि विशेषण प्रभृति विभिन्न नामो से अन्य तत्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार स्पष्ट है, ये दोनो विचारधाराएँ मूल रूप मे एक-तत्ववादी होने के वावजूद भी अपनी-अपनी दृष्टि से वहुत्व और नानात्व की उपपत्ति करती रही है। प्रकृतिवादी साख्यदर्शन प्रकृति का स्वतन्त्र कर्तृत्व तर्क से सस्थापित करते हैं तो अन्य कितने ही प्रकृतिवादी उसकी सस्थापना उपनिषद् व ब्रह्मसूत्र आदि के आधार से करते हैं।[1] उनका यह स्पष्ट मन्तव्य था कि मुख्य कार्य करने वाली प्रकृति है। पुरुष तो केवल कर्तृत्व भोक्तृत्व शून्य है। ब्रह्मवादियो को उनका यह मन्तव्य स्वीकार नही था। वे उसका प्रवल तर्कों से खण्डन करते हुए कहते हैं—प्रधान तत्व अचेतन है, वह विश्व का निर्माण और नियमन किस प्रकार कर सकता है? उसके लिए तो किसी अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न चेतन तत्त्व की अपेक्षा है। इस विचार सघर्ष ने जव उग्र रूप धारण किया तो ब्रह्मसूत्र की रचना हुई। ब्रह्मतत्व मे मुख्य रूप से कर्तृत्व स्थापित किया गया। ब्रह्मसूत्र पर जितने भी भाष्य निर्मित हुए उन सभी ने एक स्वर से यह स्वीकार किया कि ब्रह्मतत्व ही विश्व का मुख्य और स्वतन्त्र कारण है। उन्होने ईश्वर की परिभाषा भी की और साथ ही ब्रह्मतत्व मे ही ईश्वर को घटाने का प्रयास किया है।

ब्रह्मसूत्र के जितने भी भाष्य प्राप्त होते हैं, उन भाष्यो को दो भागो मे विभक्त कर सकते है। एक विभाग मे आचार्य शंकर को रख सकते है तो द्वितीय विभाग मे भास्कर से लेकर चैतन्य तक अन्य आचार्यों को रख सकते हैं।

आचार्य शंकर का अभिमत

आचार्य शकर अद्वैतवादी हैं। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य तत्व वे नही मानते। उनके सामने एक ज्वलन्त प्रश्न था कि ब्रह्म को कूटस्थ नित्य माना जाये तो वह परिणामी नही हो सकता और न उसमे वन्ध, मोक्ष और जीव भेद की व्यवस्था ही घटित हो सकती है। अत उन्होने मायावाद मानकर सभी प्रश्नो के समाधान करने का प्रयास किया है। यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि उन्होने माया को एक स्वतन्त्र तत्व नही माना है क्योकि स्वतन्त्र तत्व मानने से उनका अद्वैत सिद्धान्त टिक नही सकता था। अत उन्होंने माया का सदसदनिर्वचनीय प्रभृति के रूप मे वर्णन कर उसको न ब्रह्मतत्व से पृथक् माना है और न सर्वथा अपृथक् ही। वे उसे न सत् कहते

---

1 साख्यादय स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्यचक्षते। तेपां यद् व्याख्यान तद् व्याख्यानाभास न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत् पूर्वकृतम्।
—ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य, २।१

है और न असत् ही कहते है । तथापि माया को स्वीकार करके केवल अद्वैतवाद की उपपत्ति करते हैं । दृग्गोचर होने वाला जितना भी व्यावहारिक प्रपच है उस सभी का मूल केन्द्र माया है । आचार्य शकर ने माया के माध्यम से ब्रह्मतत्व के कूटस्थ नित्यत्व और केवलाद्वैतवाद दोनो की सस्थापना की ।

उनके पश्चात उनके अद्वैतवाद सिद्धान्त को लेकर जो ज्वलन्त प्रश्न उद्बुद्ध हुए, उन सभी प्रश्नो का उत्तर उनके विद्वान शिष्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से देने का प्रयास किया । एक ही प्रश्न का उत्तर सर्वज्ञात्म मुनि अपने ढग से प्रदान करते है तो उसी प्रश्न का उत्तर वाचस्पति मिश्र अपनी दृष्टि से प्रदान करते है और अन्य आचार्य उसके समाधान के लिए अपने तर्क अपनी दृष्टि से देते है । पर, सभी के समाधान की विशेषता यह रही कि उन्होने आचार्य शकर द्वारा प्रतिपादित केवलाद्वैत को किसी भी प्रकार की क्षति नही आने दी ।[1]

आचार्य शकर को मानने वाले चिन्तको के सामने एक प्रश्न था—ब्रह्म, जीव और ईश्वर ये दोनो किस प्रकार हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए उन्होने कहा—"मायोपाधिक ब्रह्म ईश्वर है और अविद्योपाधिक ब्रह्म जीव है ।" पुन· यह प्रश्न समुत्पन्न हुआ कि जिस माया के आश्रय से सृष्टि का सृजन ब्रह्म करता है, उस माया का स्वरूप क्या है ? जो सृजन होता है वह कर्म सापेक्ष है या निरपेक्ष है ? ईश्वर की संस्थापना अकाट्य तर्क से करनी चाहिए या आगम प्रमाण से ? इन सभी प्रश्नो का विज्ञो ने समाधान इस प्रकार किया—परमेश्वर की बीज-शक्ति का नाम माया है, जो इस वास्तविक जगत् की रचना करती है । ईश्वर की यह अविद्यात्मिका बीज-शक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है । यह परमेश्वर मे आश्रित होने वाली महा-सुपुप्ति-रूपिणी है, जिसमे अपने स्वरूप को न जानने वाले ससारी जीव शयन किया करते है । यह माया ईश्वर की नित्य स्वरूप नही, ईश्वर की इच्छामात्र है जिसको वे जब चाहे छोड सकते हैं । माया ब्रह्म से अभिन्न और अच्छेद्य है । वही इस जगत को उत्पन्न करती है । माया सत् भी नही, असत् भी नही और उभय रूप भी नही है । वह अनिर्वचनीया है ।

शाकर मत की दृष्टि से ईश्वर जगत का निमित्त कारण भी है एव उपदान कारण भी । जगत की सृष्टि इच्छापूर्वक है । ईक्षणपूर्वक सृष्टि व्यापार करने वाला ईश्वर चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर निमित्त कारण और उपाधि (माया) पक्ष की दृष्टि से उपादान कारण है । ब्रह्म की जगत सृष्टि मे माया को ही प्रधानतया कारण मानना उचित है ।

---

[1] दास गुप्ता की "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी" भाग ३ के पृष्ठ १९७-८ पर की पाद टिप्पणी, न० २ ।

ईश्वर की सस्थापना आचार्य शकर ने आगम एव उपनिषदो के आधार पर की है। तर्क उस ईश्वर की सस्थापना मे अनुकूल साधन है।

आचार्य शकर ने सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही ईश्वर माना है। उन्होने न्याय, वैशेषिक मान्य स्वतन्त्र ईश्वर निमित्तवाद का और साख्यसम्मत स्वतन्त्र प्रकृति के कर्तृत्ववाद का निरसन किया है। जो अनीश्वरवादी हैं उन्हे अवैदिक कहकर उनका निषेध किया किया।

साराश यह है कि ब्रह्मवादियो ने ब्रह्म के पूर्ण कर्तृत्व की ईश्वर मे सस्थापना की।

आचार्य शकर से पूर्व अनेक मनीषियो ने ब्रह्मतत्व व्याख्याएँ की। पर वे आचार्य शकर की तरह कैवलाद्वैती और मायावादी नही थे। उन्होने ब्रह्म-तत्व को प्रकृति से पृथक् माना और साथ ही उसे परिणामी भी माना। यह सत्य-तथ्य है कि शकर के पूर्व जो व्याख्याकार हुए हैं, उनके ग्रन्थ पूर्ण रूप से सप्राप्त नही होते, किन्तु उनके चिन्तन प्रवाह को विभिन्न आचार्यों ने विकसित किया है। उन आचार्यों मे भर्तृप्रपच का प्रथम स्थान है। उन्होने ब्रह्मतत्व को परिणामी तथा परमात्मा को समुद्र तरग न्याय से द्वैताद्वैत सिद्ध किया। उसी परम्परा मे शकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यो मे भास्कर का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। उन्होंने भी ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य लिखा। उनके मतानुसार ब्रह्म सगुण, सलक्षण, बोधलक्षण और सत्यज्ञानानन्त लक्षण युक्त है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं—भोग्य शक्ति और भोक्तृ शक्ति।[1] भोग्य शक्ति आकाश आदि अचेतन जग रूप मे परिणत होती है और भोक्तृ शक्ति जीवन मे जीव रूप मे विद्यमान रहती है।[2] भास्कर ब्रह्मतत्व को भिन्नाभिन्न मानते है। उनका मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु किसी दृष्टि से एक है तो दूसरी दृष्टि से अनेक है। एक ही वस्तु मे एकत्व और अनेकत्व दोनो हैं। भले ही वह परिणाम स्वल्पकालीन क्यो न हो तथापि वास्तविक है। जैसे—समुद्र एक होने पर भी तरगें अनेक हैं वैसे ही ब्रह्म एक होने पर भी जगत् एव जीवात्मक परिणाम के रूप मे अनेक है। भास्कर ने ब्रह्म मे ईश्वर की स्थापना की। उन्होंने आचार्य शकर के सदृश माया को स्थान नही दिया। उन्होने ब्रह्म मे अनेक शक्तियाँ मानी हैं।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जैसे साख्यदर्शन मूल प्रकृति मे तन्मात्र प्रभृति भोग्य सृष्टि तथा बुद्धि और अहकार आदि रूप भोक्तृत्व शक्ति घटित करता है, वैसे ही भास्कर भी मूलब्रह्म मे इन सभी को घटित करता है।[3]

---

1 भास्कर भाष्य, २-१-२७।

2 "ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्। यथा क्षीर दधि भावेस्य अम्भो हिम भावे, न तु तत्राप्यातचनमाधारभूत च द्रव्यमपेक्षते।" —भास्करभाष्य, २।१।२४।

3 (क) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी, भाग ३, दास गुप्ता, पृष्ठ ६।
(ख) ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य, २-१-१४, पृष्ठ ९७।

वेदान्त की विविध मान्यताएँ तुलनात्मक विवेचन

उपनिषद् युग मे एक ओर अद्वैत विचारधारा जन-जन के अन्तर्मानस मे पनप रही थी तो दूसरी ओर द्वैत विचारधारा का प्रवाह भी प्रवाहित था। इन दो विचार-धाराओ के सघर्ष मे तीसरा द्वैताद्वैतवाद विभिन्न रूप से अस्तित्व मे आ रहा था। सद्-द्वैत, द्रव्याद्वैत, गुणाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे अद्वैत विचार विक-सित होते रहे। उस समय आचार्य शकर के केवलाद्वैतवाद की विचारधारा द्रुतगति से आगे बढ़ी। जिसके कारण द्वैत और द्वैताद्वैत दोनो ने अपनी रीति और नीति से माया-श्रित केवलाद्वैतवाद के विरोध मे अपना तेजस्वी स्वर बुलन्द किया। उन्होने प्रबल प्रमाण और अकाट्य तर्कों से केवलाद्वैतवाद को अप्रामाणिक सिद्ध करने का महान् प्रयास किया। उनमे उपनिषदो को मानने वाले मूर्धन्य आचार्य भी थे। शुद्धाद्वैत के आधार पर साख्यदर्शन ने और आचार्य मध्व ने विरोध किया। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य प्रभृति आचार्यों ने अपनी दृष्टि से वैष्णव परम्परा का आश्रय ग्रहण करके क्रमश विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैत का प्रतिपादन कर आचार्य शकर के मायावाद का खण्डन किया। भास्कर ने ब्रह्म या ईश्वर तत्व मे एकानेकत्व भेदाभेद की सस्थापना की। उस पर कुछ पृथक् रूप से अपनी दृष्टि से विस्तार के साथ वैष्णव और शैव आचार्यों ने गम्भीर विचार कर अपने-अपने मन्तव्यो की स्थापना की। विज्ञानभिक्षु आदि ने ब्रह्माद्वैत की स्थापना कर साख्ययोग विचार को अद्वैत की परि-भाषा मे आबद्ध किया। श्रीकण्ठ आदि आचार्यों ने शैव परम्परा के महत्त्व का प्रतिपादन कर ब्रह्म तत्त्व की शिव के रूप मे विवेचना की और अपनी दृष्टि से अद्वैत विचार-धारा की स्थापना की।

आचार्य रामानुज का अभिमत था कि परब्रह्म या नारायण सर्वान्तर्यामी है। वह मगल गुण का अक्षय भण्डार है। वह कूटस्थ है, पर स्वय के शक्ति विशेष से अपने अव्यक्त कारणावस्थ चित्-तत्त्व रूप सूक्ष्म शरीर को कार्यावस्थ बनाता है। प्रकृति और जीव तत्त्व जो नारायण के साथ शरीर के रूप मे हैं, वे उसकी शक्ति से सचालित होते हैं। यह जड चेतनयुक्त जगत माया रूप नही है, किन्तु सत्य है। उन्होने परब्रह्म की ईश्वर या वासुदेव के रूप मे स्थापना की। उनका भी मूल आधार ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् हैं। उनका यह अभिमत था कि केवल कमनीय कल्पना व अनुमान से ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त उन्होने सृष्टि रचना ईश्वर से मानी है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया है। नारायण या ब्रह्म की स्थापना करने मे उपनिषदो के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। आचार्य शकर ने जहाँ पर केवलाद्वैतपरक अर्थ किया है, ब्रह्मसूत्रोपनिषदो मे रामानुज ने वहाँ पर विशिष्टाद्वैतपरक अर्थ बताकर यह सिद्ध

करने का प्रयास किया है कि नारायण रूप परब्रह्म है और वही नारायण चेतनाचेतन जगत का उपादान व निमित्त है ।[1]

निम्वार्क पारमार्थिक भेदाभेद या द्वैताद्वैतवादी है । उन्होने तत्त्व की ईश्वर के रूप मे स्थापना की और उसे विष्णु कहा ।[2] विष्णु ही चराचर जगत का उपादान और निमित्त है ।

विज्ञानभिक्षु साख्यदर्शन के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं । वे स्वतन्त्र विचार के धनी थे । उन्होने साख्य और वेदान्त दर्शनो मे सामजस्य विठाने का सफल प्रयास किया । भास्कर और रामानुज से कुछ पृथक् दृष्टि लिए हुए ब्रह्मतत्त्व की, ईश्वर के रूप मे स्थापना की । उनका मन्तव्य है कि सत्व रूप शुद्ध प्रकृति का अवलम्वन लेकर ब्रह्म अपने आप मे ही सदा वर्तमान प्रकृति और पुरुप तत्त्व की सृष्टि करता है और उसे विकसित करता है । प्रकृति और पुरुप काल्पनिक नही, परन्तु वास्तविक हैं । वे ब्रह्म से पृथक् है । पृथक् होने पर भी ब्रह्म से विभक्त नही है । ब्रह्म तत्त्व की उपादान और निमित्त कारण रूप प्रचलित भापा का परित्याग कर इन्होने नवीन अधिष्ठान रूप व्याख्या प्रस्तुत की । अधिष्ठान कारण समवायी, असमवायी और निमित्त कारण से भिन्न एक नवीन कारण है । अधिष्ठान कारण वह है जिसमे कार्य विभक्त नही होता, किन्तु उपष्टम्भ पाकर प्रवृत्ति करता है । यह अधिष्ठान कारण ब्रह्म है । प्रकृति और पुरुप उसी मे विना विभाग रहते हैं । यही कारण है कि विज्ञानभिक्षु को अविभाग अद्वैतवादी कहा गया है । ये उपनिपद्, पुराण और स्मृति के प्रमाणो के आधार से ब्रह्म की निर्विभाग अद्वैत रूप मे सस्थापना कर उसे ईश्वर कहते हैं । इन्होने आचार्य शकर के मायावाद का खण्डन किया है । आचार्य शकर ने साख्य और योग दर्शन को अवैदिक माना है, पर विज्ञानभिक्षु ने उन्हे वैदिक माना है और इस वात पर वल दिया है कि साख्यसम्मत प्रकृति वैदिक है, प्रकृति ब्रह्म का अश है ।[3]

वल्लभ ने भी ब्रह्म की ईश्वर के रूप मे स्थापना की । सामान्य रूप से उनका दृष्टिकोण अन्य आचार्यों से पृथक् प्रतीत होता है । पर गहराई से चिन्तन करने पर सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होता है कि उनकी विचारधारा आचार्य रामानुज की विचारधारा से मिलती-जुलती है । वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैती हैं । वे ब्रह्म को विश्व-स्वरूप और विश्व को ब्रह्म-स्वरूप तथा विश्व का पारमार्थिकत्व सस्थापित करते हैं । उनका यह वज्र आघोप है कि ईश्वर (ब्रह्म) विश्व का उपादान कारण

---

1 (क) हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसाफी, भाग ३, पृष्ठ १५६ —ले० दास गुप्ता
(ख) सूक्ष्मचिदाचिद्वस्तु शरीरस्यैव ब्रह्मण स्थूलचिदाचिद्वस्तु शरीरत्वेन कार्यत्वात् ।
—श्री भाष्य (वाबे सस्कृत सीरीज) १।१।१ ।

2 निम्वार्क भाष्य—ब्रह्मसूत्र, १।१।४ ।

3 विज्ञानामृत भाष्य—१।१।२, १।१।४, २।१।३२ ।

नही, पर समवायी कारण है। उन्होने समवायी कारण की परिभाषा न्याय-वैशेषिक की परिभाषा से कुछ पृथक् रूप से की है। इन्होने ईश्वर की सस्थापना उपनिषदो के आधार पर की है। वे ईश्वर की लीला को पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप मे मानते हैं। वल्लभाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे एक प्रश्न उपस्थित किया कि ईश्वर तत्त्व सत्-चित् आनन्द रूप है तो उसके कार्य या परिणाम रूप विश्व मे भी समवायी कारण रूप ईश्वर के सत्-चित् आनन्द रूप अश का अनुभव होना चाहिए। पर अचित् या चित् जगत मे केवल अस्तित्व अश का ही अनुभव होता है और जीव जगत मे तारतम्य से चैतन्य का अनुभव होता है। यदि ब्रह्म और विश्व का अभेद हो या विश्व समवायीकरण ईश्वर का कार्य हो तो कार्य मे कारण के सभी गुणो का समान रूप से आना आवश्यक है। किन्तु वे समान रूप से अनुभवगम्य क्यो नही होते ?

प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हुए[1] उन्होने लिखा है कि आवरण भग[1] के तारतम्य के कारण समवायी कारण रूप ब्रह्म के सत्त्व आदि गुण कार्य जगत मे तारतम्य से व्यक्त होते हैं। आवरण की प्रधानता के कारण अचित् विश्व मे चैतन्य व्यक्त नही होता, किन्तु आवरण की शिथिलता के कारण चित्-जगत मे चैतन्य का अनुभव होता है। शुद्ध आनन्दाश केवल ईश्वर मे अभिव्यक्त होता है।

साख्यदर्शन के आचार्य विश्व का मूल कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते थे और उससे वे विश्व-वैचित्र्य की उपपत्ति करते थे। वल्लभाचार्य ने कहा— त्रिगुणात्मक प्रकृति मे जो सत्त्व अश है उससे सुख का भाव घटित नही कर सकते। क्योकि सृष्टि मे सर्वत्र सत्त्व का अश विद्यमान है। यदि उसी से सुख और ज्ञान सम्भव है तो सम्पूर्ण विश्व मे समान रूप से उसका अनुभव होना चाहिए। पर दृष्टिगोचर होता है कि किसी एक ही वस्तु से एक समय मे अनेक जीव सुख-दुःख का अनुभव करते है। एक वस्तु समय के अनुसार सुख प्रदान करती है, वही वस्तु समय के अनुसार दुःख भी प्रदान करती है। अत सुख-दुःख, ज्ञान आदि की अनुभूति सत्त्व आदि गुणमूलक नही है, किन्तु वह ईश्वरदत्त चित्, आनन्द शक्ति की तारतम्ययुक्त अभिव्यक्ति के कारण है। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति के स्थान पर ब्रह्म की प्रतिष्ठा कर उसे परमेश्वर की सज्ञा प्रदान की।[2]

श्री चैतन्य महाप्रभु ने तत्त्व ज्ञान की दृष्टि से मध्व के द्वैतवाद का अनुसरण किया है। वह अचिन्त्य भेदाभेद वेदान्त का सस्थापक है। कार्य-कारण के सम्बन्ध मे उनका अचिन्त्य भेदाभेद रामानुज दर्शन के अधिक सन्निकट है। चित् और अचित् शक्ति से युक्त कारणावस्था मे सूक्ष्मशक्तिक और कार्यावस्था मे स्थूलशक्तिक माना

---

1 ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।३ (वल्लभाचार्य)।

2 (क) अणुभाष्य, १।१।३।
(ख) अणुभाष्य प्रकाश टीका।

जाता है। ये दोनो शक्तियाँ स्वरूप की दृष्टि से ब्रह्म से अभिन्न हैं, परन्तु स्थूल अवस्था मे उससे भिन्न भी हैं। शक्तिमान ब्रह्म चित्-अचित् शक्तियो मे परिणाम होने के बावजूद भी वह स्वरूप से अपरिणत बना रहता है। उसकी अपरिणत स्वरूप शक्ति विशेष निमित्त कारण है और चित् अचित् शक्तियो से उस शक्ति का योग होने पर वही ब्रह्म उपादान कारण भी है। अत ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। प्रस्तुत दर्शन का निम्बार्क और वल्लभ दर्शन के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है।

शैवाचार्य श्रीकण्ठ ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्म की सच्चिदानन्द शिव रूप मे स्थापना की है। वह शिव, शर्व, भव, महेश्वर, ईशान प्रभृति अनेक नामो से जाना और पहचाना जाता है। वह ईश्वर केवल निमित्त कारण नही अपितु उपादान और निमित्त उभय स्वरूप है। इस प्रकार उन्होंने नकुलीश, पाशुपत और न्याय-वैशेषिक आदि महेश्वर निमित्त कारणवादियो से अपना मत पृथक् प्रदर्शित किया है। इनके ब्रह्मसूत्र पर भाष्य का आधार शैवागम है।

आचार्य श्रीकण्ठ का अभिमत है कि सूक्ष्म अचित् और चित् शक्तियुक्त ब्रह्म कारण-ब्रह्म है और स्थूल या दृश्यमान अचित्-चित् युक्त विश्व कार्य-ब्रह्म है। प्रस्तुत कथन मे आचार्य रामानुज के विचारो का अनुसरण है। रामानुज ने सूक्ष्म अचित् और चित् को शरीर कहकर उसे ब्रह्म का कारणावस्थ रूप और व्यक्त या स्थूल प्रपच को ब्रह्म का कार्यावस्थ रूप कहा है। ये शैव और वैष्णव दोनो आचार्य परिणामवादी होने पर भी परिणाम का आधार ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। ये ब्रह्म को कूटस्थ नित्य और अपरिणामी सिद्ध करते हैं। आचार्य श्रीकण्ठ के मतानुसार परिणाम का अर्थ विकार है, जो परिणामी होता है, वह विकारी है। किन्तु ब्रह्म निर्विकारी है। ब्रह्म मे अनेक शक्तियाँ हैं। वल्लभाचार्य का मत अविकृत परिणामवाद है। श्रीकण्ठ ने परिणाम को विकार कहा है, परिणामी ब्रह्म विकारी है। अतः उन्होने अपने वाद को अविकृत परिणामवाद कहा है।

पूर्वमीमासक दृष्टि से ईश्वर

वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड मे यज्ञ-यागादि की विधि तथा अनुष्ठान का विस्तार से वर्णन है। कर्मकाण्ड पर चिन्तन होने के कारण प्रस्तुत दर्शन कर्म-मीमासा या पूर्व-मीमासा के नाम से विश्रुत है। महर्षि जैमिनि मीमासा दर्शन के प्रथम सूत्रकार हैं।

प्रश्न है कि हमारे अचेतन कर्मों का फल प्रदान करने वाला कौन है? किसी चेतन पुरुष की अधिष्ठातृता के बिना कर्म अपना फल कैसे प्रदान कर सकता है? इस प्रश्न के समाधान मे आचार्य बादरायण ने ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता माना है और जैमिनि ने कहा—यज्ञ के कारण कर्म का फल प्राप्त होता है, ईश्वर के कारण नही। प्राचीन मीमासा ग्रन्थो से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही होती पर पश्चातवर्ती

आचार्यो ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप मे स्वीकार किया है। साथ ही गीता के ईश्वर समर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कर्मों का फल ईश्वर को समर्पित करने की बात पर भी बल दिया है। कर्म ही अपनी शक्ति से फल देने मे समर्थ हैं—इस दृष्टि से कुछ विचारक मीमासा-दर्शन को निरीश्वरवादी मानने लगे। किन्तु नन्दीश्वर ने कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व मे श्रेष्ठतम प्रमाण वेद ही है। मीमासा ग्रन्थो मे ईश्वर का खण्डन नही अपितु नैयायिको के उस अनुमान का खण्डन है जिसमे उन्होने वेद का आश्रय न लेकर केवल कल्पित अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की थी। समाज को कार्यशील बनाने हेतु कर्म की प्रधानता इस दर्शन ने बतायी है। अत' इस दर्शन मे मन्त्र, देवता, विधिवत् कर्म और सामग्रीजन्य शक्ति, ये ही ईश्वर के कर्तृत्व का स्थान ग्रहण करते हैं।

चार्वाकदर्शन

भारत के प्रमुख दर्शनो मे चार्वाक का भी स्थान है। इसका दूसरा नाम 'लोकायत' है। इसके प्रवर्तक बृहस्पति है। यह केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान के सम्बन्ध मे उसका मन्तव्य है कि उसके पीछे केवल सम्भावना है, तात्त्विक सिद्धान्त नहीं। वह आगम-प्रमाण को भी नही मानता। उसका मानना है—वेद, पुराण, त्रिदण्ड धारणा करना, भस्म लगाना आदि उन लोगो की आजीविका है जिनमे न बुद्धि है और न पुरुपार्थ ही है। चार्वाक दर्शन ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा आदि किसी भी अतीन्द्रिय तत्त्व को स्वीकार नही करता। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन्ही चार तत्त्वो के न्यूनाधिक मात्रा मे मिलने से सारे विश्व की उत्पत्ति होती है। इसी तरह चार महाभूतो के विशिप्ट अनुपात से चेतना की उत्पत्ति होती है तथा परस्पर संयोग समाप्त होने पर मृत्यु होती है। परलोक जाने वाला आत्मा नामक कोई द्रव्य नही है। चार्वाकदर्शन कार्य-कारण, व्याप्य-व्यापक भाव नही मानता। वह मोक्ष एव आत्म-साक्षात्कार की चर्चा को व्यर्थ मानता है। इसलिए उसमे ईश्वर के सम्बन्ध मे कोई चिन्तन नही किया गया है।

बौद्धदर्शन और ईश्वर

बौद्धदर्शन वैदिक परम्परा की तरह ईश्वर को सृष्टिकर्ता व संहर्ता के रूप मे नही मानता। इसीलिए कितने ही दार्शनिक बौद्ध धर्म को निरीश्वरवादी मानते है। "सयुक्तनिकाय" मे विश्व अनादि है या सादि है? अनन्त है या सान्त है? आत्मा और शरीर भिन्न है या अभिन्न है? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? आदि सभी प्रश्नो को अव्याकृत कहा अर्थात् उनके सम्बन्ध मे निर्णय असम्भव है। इसलिए बुद्ध सदा ऐसे प्रश्नो के सम्बन्ध मे मौन रहे है। उन्होने इस पर चर्चा करना उपयुक्त नही समझा। पर यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने कर्म को स्वीकार किया है और कर्म की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उनका मन्तव्य है—जीवो मे जो विचित्रता दृष्टिगोचर है, वह कर्म के कारण है। मानसिक कर्म को बौद्धदर्शन मे 'वासना' कहा है और वचनजन्य

सस्कार कर्म को 'अविज्ञप्ति' कहा है। बौद्ध दार्शनिको ने, जिसे बुद्ध ने अव्याकृत कहकर टालने का प्रयास किया, उस पर भी लिखा है। बुद्ध ने कहा—मानव ही साधना के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करता है, ईश्वर बन सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई ईश्वर नही जो सृष्टि-सहार करता हो, और तटस्थ साक्षी भी हो। साधक जब अपूर्ण रहता है, वह किसी न किसी आलम्बन की अपेक्षा रखता है। उस आलम्बन के सहारे बौद्ध दृष्टि से अपने पुरुषार्थ के द्वारा बुद्ध बना जा सकता है और उसका आलम्बन लेकर दूसरे भी बुद्ध हो सकते हैं। इस दृष्टि से बुद्ध आत्मा ही ईश्वर और परमात्मा है।

जैन दृष्टि से ईश्वर

भारत के अन्य ईश्वरवादी दार्शनिको ने आत्मा—जीव से ईश्वर की एक अलग सत्ता मानकर उसे सर्वशक्तिमान की सज्ञा प्रदान की, पर जैन दार्शनिको ने ईश्वर की आत्मा से अलग विजातीय सत्ता नही मानी। उसने मानव को ही अनन्त शक्तिमान माना है। उसने कहा— मानव मे अनन्त प्रकाश की रश्मियाँ बन्द पडी हैं। राग-द्वेष आदि विकारो के कारण वह अपने आपको पहचान नही पा रहा है। जैन दृष्टि से प्रत्येक आत्मा मे स्वरूपत परमात्म-ज्योति विद्यमान है। चेतन और परम-चेतन ये दो पृथक् तत्त्व नही है। अशुद्ध स्थिति से शुद्ध होने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। वह परमात्म तत्त्व कही बाहर से नही आता, अपने ही अन्दर रहा हुआ है। उसका यह वज्र आघोप है कि "अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है। "तत्त्वम सि" का भी यही अर्थ है। आत्मा केवल आत्मा नही है, किन्तु वह स्वय परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। आत्मा अपने मूल स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार और निरजन है। जब तक उस पर कर्मो का आवरण है, तब तक वह बन्धनो से बद्ध है। पर ज्योही आत्मा विशिष्ट साधना के द्वारा निर्मल होती है, त्योही समस्त बन्धनो से विमुक्त होकर अपने स्वकीय शुद्ध मौलिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती अर्थात् परमात्मा बन जाती है। पारमार्थिक दृष्टि से ससारस्थ आत्मा मे और मुक्त आत्मा—परमात्मा मे किंचित्मात्र भी भेद नही है। मुक्तात्मा मे शक्ति की उत्पत्ति नही, किन्तु अभिव्यक्ति होती है। वह शुद्ध स्वरूप कही बाहर से नही आता, केवल अनावृत हो जाता है।

प्रत्येक ससारी आत्मा सत्तामय भी है और चेतनामय भी है। यदि कमी है तो स्थायी आनन्द की है। जब वह अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाती है तो उसे अक्षय आनन्द, जो आवृत था, उपलब्ध हो जाता है। सत् पहले भी व्यक्त रूप से था, किन्तु चित् एव आनन्द की व्यक्त रूप से कमी थी। उसकी पूर्ति होते ही वह सच्चिदानन्द बन जाता है। आत्मा से परमात्मा बन जाता है, भक्त से भगवान बन जाता है।

कतिपय भारतीय दर्शनो मे ईश्वर के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा है कि ईश्वर सर्वोपरि सत्ता है, वह जीवात्मा से विलक्षण और एक है, अनादिकाल से वह सर्वसत्ता-सम्पन्न है। दूसरा कोई ईश्वर नही हो सकता। वह जो कुछ भी चाहता है, वही होता है। असम्भव को सम्भव करने की शक्ति उसमे है। वह चाहे तो एक क्षण मे विराट्

विश्व का निर्माण कर सकता है और वह चाहे तो एक क्षण मे उसे नष्ट भी कर सकता है। उसकी लीला का आर-पार नही है। उसकी विना इच्छा के पेड का एक पत्ता भी नही हिल सकता। किसी ने उस ईश्वर का निवास वैकुण्ठ मे माना, किसी ने व्रह्मलोक मे, किसी ने सातवे आसमान मे तो किसी ने समग्र विश्व मे उसे व्याप्त माना है।

जैन दर्शन इस प्रकार के कर्ता-हर्ता रूप मे ईश्वर को नही मानता। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि ईश्वर न किसी पर रुष्ट होता है और न तुष्ट होता है। वह न किसी को नरक मे भेजता है और न किसी को स्वर्ग मे। वह पूर्ण वीतराग है। प्राणी का जो कुछ भी अच्छा या वुरा होता है, वह सव उसके ही कृत कर्मों का फल है। वस्तुत मानव ईश्वर की सृष्टि नही, अपितु ईश्वर ही मानव के उर्वर मस्तिष्क की सृष्टि है। ईश्वर शासक और मनुष्य शासित है, ऐसा मन्तव्य उचित नही है। मानवीय चेतना का परम और चरम विकास ही ईश्वरत्व है। इसे प्रत्येक मानव प्राप्त कर सकता है। ईश्वरत्व प्राप्त करने के लिए जाति, कुल, सम्प्रदाय या किसी वर्ग विशेप का भी वन्धन नही है जो भी मानव आध्यात्मिक विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुँच जाता है, वही ईश्वर वन जाता है।

वैदिक दार्शनिको ने जैन दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन घोषित किया है। पर जैन दर्शन वस्तुत अनीश्वरवादी नही है। जैन दर्शन ने ईश्वर को सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप, वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप मे माना है। वह कर्मफल प्रदाता नही है, अपने सद्-असद् कर्म के अनुसार ही जीव को सुख-दुख की उपलब्धि होती है, स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होती है।

जैन दर्शन के अनुसार यह विराट् सृष्टि मूलत जड और चेतन इन दो तत्त्वो का ही विस्तार है। ये दोनो तत्त्व अनादि और अनन्त हैं। विभिन्न दर्शनो और आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह निर्विवाद है कि सर्वथा असत् की उत्पत्ति नही हो सकती और जो सत् है, उसका कभी सर्वथा विनाश नही होता।

"नासतो विद्यते भाव', नाभावो जायते सत" इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार जड और चेतन तत्त्व सदा से है और सदैव विद्यमान रहेगे। ऐसी स्थिति मे सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश सम्भव नही हैं, और न सृष्टिकर्ता किसी ईश्वर को या अन्य सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता है।

सामान्य वोल-चाल मे जिसे उत्पाद और विनाश कहा जाता है, वह वास्तव मे पदार्थों का परिणमन रूपान्तर मात्र है। मृत्तिका का पिण्ड रूप मे रूपान्तर होता है और पिण्ड का घट के रूप मे। यही परिणमन घट का उत्पाद कहलाता है। घट का टुकडो के रूप मे या वारीक रेत के रूप मे वदल जाना ही घट का विनाश कहा जाता है, शून्य हो जाना नही। कुम्हार लाख प्रयत्न करके भी शून्य से घट का निर्माण नही कर सकता। इसी प्रकार किसी एक परमाणु को शून्य—अभाव रूप मे परिणत नही किया जा सकता। यह सत्य है तो इतनी विशाल सृष्टि शून्य मे से किस प्रकार वन

सकती है ? और कभी वह शून्य कैसे वन सकती है ? अतएव स्पष्ट है कि सृष्टि अपने मौलिक रूप मे अनादि-अनन्त है । उसका कोई स्रष्टा नही हो सकता ।

आखिर ईश्वर को जगत का निर्माण करने के प्रपच मे पडने की आवश्यकता ही क्या है ? किसी को वनाना और फिर मिटाना वालको का स्वभाव है, यह ईश्वर का स्वभाव नही हो सकता । परम कृपालु ईश्वर यदि सृष्टि रचता है तो यह एकान्त सुख-शान्तिमय होती, अनेक प्रकार के दु खो से परिपूर्ण नही । इसके अतिरिक्त वह चोर, डाकू, हत्यारे, लुटेरे आदि पापिष्ठ जनो का निर्माण क्यो करता ? प्रथम वह ऐसे अधार्मिको का निर्माण करे और फिर उन्हे दण्डित करने के लिए नरक मे भेजे, यह दयामय ईश्वर जैसी सत्ता को शोभा नही देता । इस प्रकार जैन दर्शन का मन्तव्य है कि जगत्कर्ता मानने से ईश्वर के स्वरूप मे बट्टा लगता है, उसका रूप विकृत हो जाता है ।

जैनदर्शन के अनुसार ईश्वर मे अनन्त शक्तियाँ तो है, पर वह सर्वशक्तिमान नही है । वह सर्वशक्तिसम्पन्न होता तो अपना जैसा दूसरा ईश्वर वनाने की शक्ति भी उसमे होनी चाहिए थी, मगर यह शक्ति उसमे किसी भी दर्शन को अभीप्ट नही है । अतएव ईश्वर है, कोई भी आत्मा ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है और यही जैन साधना का चरम लक्ष्य है ।

सिक्ख-पन्थ मे ईश्वर कल्पना

सिक्ख धर्म वस्तुत कोई मौलिक धर्म नही है, वह हिन्दू धर्म का एक पन्थ है । इसके आद्य सस्थापक नानक थे । नानक का यह मन्तव्य था कि सत्य एक है और उस सत्य को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग हैं । मानव ईश्वर को पूर्णरूप से नही किन्तु अश रूप से और सही ज्ञान से ही जान सकता है । क्योकि मनुष्य के ईश्वर ज्ञान की सीमा है । मानव स्वभावत अपूर्ण हैं । अतः पूर्ण रूप से वह ईश्वर को नही जान सकता । सिक्खो का धर्म-ग्रन्थ "आदि ग्रन्थ" या "गुरु ग्रन्थ साहव" है ।

उनके धर्मग्रन्थ मे ईश्वर के दो प्रकार के गुण माने है—मूल गुण और कर्म गुण । उनका स्वरूप इस प्रकार है :

ईश्वर के मूल गुण

वह एक है । स्वयभू है, वह स्रष्टा और शासक है, निराकार है, सवका पिता है, सव कारणो का कारण हैं, अनन्त, अकाल और निरकार है, परम पूर्ण और ज्योति स्वरूप है । सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी है और सर्वज्ञानी है ।

ईश्वर के कर्म गुण

ईश्वर ही स्रष्टा और सहारकर्ता दोनो है । वह परम न्यायी है ।

सिक्ख धर्म मे एकेश्वर का सिद्धान्त स्पप्ट रूप से व्यक्त किया गया है । सवको उपासना का स्वातन्त्र्य देते हुए गुरुओ ने मूर्ति-पूजा का खण्डन किया है, वे अवतार-वाद और वहुदेववाद के विरोधी हैं ।

मनुष्य का ईश्वर मे विश्वास और निष्ठा के रहने का आधार ईश्वर का पुण्यवान् मनुष्य के प्रति प्रेम है। ईश्वर का प्रेम अनुग्रह बनकर व्यक्त होता है। मनुष्य की दृष्टि से ईश्वर के न्याय से भी अधिक उसका प्रेम अनन्त, असीम है। इसीलिए गुरुओ ने ईश्वर-प्रेम की माता के प्रेम से तुलना की है। ईश्वर का क्रोध क्षणिक है, और प्रेम सदा रहता है। सिक्ख धर्म मे "शिव" प्रकाश का प्रतीक है और "शक्ति या माया" अन्धकार का। गुरु नानक की मान्यता थी कि शरीर ईश्वर का मन्दिर है और मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ हीरा है।

यहूदी धर्म मे ईश्वर

विश्व के प्रमुख धर्मों मे यहूदी धर्म भी एक है। यहूदियो का सारा जीवन ईश्वरार्पित है। "याहवेह [जेहोवा]" इनके प्रमुख आराध्य देव है और इसी मुख्य देव ने अन्य देवो का निर्माण किया है। इनका यह अभिमत है कि ईश्वर एक ही है,सारी सृष्टि उसके द्वारा निर्मित है।

इनकी दृष्टि से ससार एक कार्य-क्षेत्र है। जब कभी भी धर्म के प्रति जन-मानस मे ग्लानि समुत्पन्न होती है, तब ईश्वर अपना अद्‌भुत चमत्कार दिखाता है। प्रस्तुत मान्यता की तुलना 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' के "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !......" से की जा सकती है। पर अन्तर यही है कि गीता की दृष्टि से ईश्वर अवतार ग्रहण करता है और यहूदियो की दृष्टि से वह अवतार ग्रहण नही करता अपितु अद्‌भुत चमत्कारो द्वारा जन-मानस को सद्‌बोध का पाठ पढाता है। यहूदी धर्म मे मानव को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है जबकि मिस्र और मेसोपोटेमिया के निवासी प्रकृति को ही ईश्वर मानते थे। पर यहूदियो ने यह क्रान्ति की और उन्होने मनुष्य की महत्ता स्वीकार की। उन्होने कहा— ईश्वर मनुष्यो के द्वारा आदर्शों को धरती पर लाता है। यहूदी धर्म मे मसीहो का अत्यधिक प्राधान्य रहा है। मसीहा वह है जो ईश्वर के पक्ष मे बोलता है। मसीहा को 'प्रॉफेट' कहते हैं, जो एक प्रकार से मानव और ईश्वर के बीच की कडी है। यहूदियो का ईश्वर जहाँ सच्चे भक्तो पर तुष्ट होता है और उन्हे अपार आनन्द प्रदान करता है तो दुष्ट एव आज्ञा का उल्लघन करने वालो पर रुष्ट होकर उन्हे दण्ड भी देता है। इस प्रकार के अनेक प्रसग यहूदी साहित्य मे प्राप्त होते हैं।

पारसी धर्म में ईश्वर

पारसी धर्म के सस्थापक जरथुस्त थे। इसमे ईश्वर के अर्थ मे "आहूर मजदा" शब्द व्यवहृत हुआ है। जरथुस्त ने आहूर मजदा के सम्बन्ध मे बताया कि वह विश्व मे सर्वोच्च है। वह सबसे अधिक प्रकाशमान, सबसे अधिक ऊँचा, सबसे अधिक पुरातन, सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम, कल्याणकारी, अपरिवर्तनीय, अचल, अखण्ड, आनन्द का स्वामी है। वह उच्च दिव्यलोक मे राजसी सिंहासन पर आसीन है। उसका वस्त्र आकाश है। वह मानव का पिता, बन्धु एवं मित्र है। वह स्रष्टा है, उसी ने अनन्त

आकाश को आलोक से आलोकित किया। उसी ने प्रकाश का निर्माण किया, अँधेरे का सृजन किया। वह वुद्धि का अधिष्ठाता तथा विश्व का निर्माता है। वह न्यायाधीश की तरह न्याय करता है।

पारसियो का मानना है कि अपरिवर्तनीय ईश्वर और परिवर्तनीय मानव के वीच सम्वन्ध स्थापित करने वाली कडी के रूप मे "स्पेन्ता मैन्यू" नामक शक्ति है। वह आधी दैविक और आधी भौतिक है। वह शक्ति आहूर मजदा की प्रतिकृति व प्रतिरूप है। पारसियो का विश्वास है कि आहूर मजदा ने छ प्रमुख देवदूतो को निर्मित किया है, वे इस प्रकार हैं

(१) वोहु मानाह [उत्तम मन],
(२) आशा [पुण्यकर्म],
(३) खशथ्री [दैवी राज्य],
(४) आरमैती [शक्ति],
(५) हौरवातात [पूर्णता],
(६) अमेरेतात [अमरता]।

पारसी मतावलम्बियो का विश्वास है कि आहूर मजदा एक चिरन्तन प्रकाश है। वह प्रकाश विविध रूपो मे व्यक्त होता है। इसीलिए उन्होने अग्नि को ईश्वर का प्रतीक माना है और वे उसकी उपासना करते हैं।

ईसाई धर्म मे ईश्वर

विश्व के विश्रुत धर्मों मे ईसाई धर्म प्रमुख है। इस धर्म को मानने वाले ससार के विविध अचलो मे करोडो की सख्या मे विद्यमान हैं। इसके आद्य प्रवर्तक ईसा हैं। इस धर्म का मूल स्रोत यहूदी धर्म रहा है। स्वय ईसा जीवन के प्रारम्भिक काल मे यहूदी थे। उन्होने यहूदी धर्म के ग्राह्य तत्त्व को ग्रहण कर तथा उसकी दुर्वलताओ को त्याग कर प्रेम और अहिंसा पर आधारित अपने विचार व्यक्त किये। उनके अभिमतानुसार भी ईश्वर स्रष्टा और उद्धारक है, वह प्रेम-स्वरूप है, वह सर्वोपरि सत्ता है, सर्वस्वामी है। ईसाई यह मानते हैं कि परमेश्वर के तीन रूप हैं—पिता, पुत्र और पवित्रात्मा। पवित्रात्मा, ईश्वर और मनुष्य के बीच तथा मनुष्य और मनुष्य के वीच सम्वन्ध सस्थापित करने वाली कडी है।

ससार ईश्वर की सृष्टि है और उसकी सृष्टि शुभ और मगलमय है। तथापि सृष्टि मे दु ख, दैन्य, पाप, पीडा आदि जो दृष्टिगोचर होता है उसका मूल कारण प्रथम स्त्री-पुरुष होव्वा और आदम के ईश्वर-आदेश का उल्लघन करना ही है। ईसाई मतानुसार मानव ईश्वर का प्रतिरूप है। परन्तु वह जन्म से अध पतित है और उसका उद्धार ईसा और ईश्वर के हाथो मे है।

इस्लाम धर्म में ईश्वर

इस्लाम धर्म का मूल स्रोत भी यहूदी धर्म है, ऐसा कितने ही चिन्तको का मानना है। इस्लाम धर्म के आद्य प्रवर्तक मुहम्मद हैं, जिन्हे मुसलमान ईश्वर का अन्तिम पैगम्बर मानते हैं। ये ईश्वर के लिए "अल्लाह" शब्द का प्रयोग करते हैं, जो सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञानवान् है, सर्वसृष्टि-निर्माता, नियन्ता और सर्वसाक्षी है। उसी ने 'जन्नत' और 'जहान' बनाया। वह अकेला, स्वाश्रित और स्वयभू है। 'अल्लाह' के अतिरिक्त उस ईश्वर के अन्य नाम या विशेषण है—रब्ब [महान स्वामी] अल्-रहमान [दयालु] अल्-बरी [कुछ मे से निर्माण करने वाला] अल्-बदी [आरम्भकर्ता] अल्-वदूद [प्रेम करने वाला] अल्-रदूफ [दयालु] अल्-तव्वाव [कृपालु] अल्-हादी [मार्ग दर्शक] अल्-मोमिन [सरक्षक] अल्-मुहैमिन [आश्रयदाता] अल्-सलाम [शान्तिदाता] अल्-कवीर [महान] अल्-जलील [परम कान्तिवान] अल्-मजीद [ऐश्वर्ययुक्त] अल्-जव्वार [पहुँच से परे] अल्-अली [उदात्त] अल्-कुद्दूस [परम पवित्र] अल्-अजीम [दिव्य] इत्यादि।

ईश्वर एक है। वह अदृश्य है। वह अवतार ग्रहण नही करता। न मनुष्य रूप मे और न पशु-पक्षी या जड के रूप मे वह व्यक्त होता है। यही कारण है कि इस्लाम धर्म मे मूर्ति-पूजा का निषेध है। पर पीर और औलियो के मकबरो की पूजा की जाती है; किन्तु उन्हे ईश्वर मानकर नही। ईश्वर की वाणी का सकलन ही ईश्वर के साक्षात्कार करने का एकमात्र उपाय है। इस्लाम धर्म मे यह विश्वास है कि ईश्वर की वाणी मानव सुन नही सकता। वह देवदूतो द्वारा तथा चुने हुए पैगम्बरो के द्वारा ईश्वर की वाणी को सुन सकता है। उन्होंने ईश्वर के सात गुण माने हैं जो इस प्रकार है—

(१) **हयाह** (जीवन)—ईश्वर असदृश, अद्वितीय, अननुकरणीय, अदृश्य, अनाकृति, अरूप, अरग, अविभाजित, अनश, अव्याकृत, एकमेवाद्वितीयम् है।

(२) **इल्म** (ज्ञान)—ईश्वर सर्वज्ञ है। कोई भी बात उससे गुह्य या अगम्य नही है। उसने कभी भूल न की, न कर सकता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रा का वह शिकार नही होता। वह चिर जागरूक है।

(३) **कद्र** (शक्ति)—ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, वह मृतो को भी जीवित कर सकता है।

(४) **इरादा** (सकल्प)—ईश्वरेच्छा बलीयसी, वह जो चाहता है, वह करता है।

(५) **सम** (श्रुति)—ईश्वर के कान न होने पर भी वह सब ध्वनियाँ सुन सकता है।

(६) **बशर** (दृष्टि)—आँख न रहने पर भी वह सब कुछ देख सकता है।

(७) **कलाम** (वाणी)—वह बोलता है, पर मुँह व जबान से नही। ईश्वर की वाणी आज्ञा, निषेध, आश्वासन, धमकी आदि के रूप मे आती है।

शिंटो धर्म में ईश्वर

शिंटो धर्म का प्रादुर्भाव जापान मे हुआ था। इस धर्म मे एक ईश्वर के स्थान पर अनेक देवी-देवताओ की मान्यता प्रचलित हुई। यो कह सकते हैं कि उन्होंने देवी-देवताओ को ही ईश्वर मानकर उपासना की। प्राकृतिक शक्तियो को देखकर उनके अन्तर्मानस मे उन शक्तियो के प्रति एक आकर्षण पैदा हुआ और उन्होने उन शक्तियो को देवी के रूप मे सस्थापित किया। उनकी यह दृढ मान्यता थी कि मानव के भाग्य-विधाता के रूप मे ये दैवी-शक्तियाँ हैं। जो कुछ भी होता है वह इन्ही दैवी-शक्तियो के कारण होता है। ये दैवी-शक्तियाँ ही प्रकाश, स्वास्थ्य, धान्य, शत्रुओ से सरक्षण, सम्पत्ति की उपलब्धि व अभिवृद्धि करती है। उन देव-देवियो की परिगणना मे सुसा नो वो (पर्जन्य देवी), इनारी (धान्य देवता), सूर्य देवी, पृथ्वी देवता, पर्वत देवता, समुद्र देवता, नदी देवता, वायु देवता, अन्न की देवी, वृक्ष देवता आदि है। वहाँ पर देवता के वाहन के रूप मे बाघ, सिंह, भेडिया, आदि पशुओ की भी अर्चना होती है।

जब जापान मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तो शिंटो धर्म पर भी उसका प्रभाव पडना स्वाभाविक था। वर्तमान युग मे शिंटो धर्म पर बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। ईश्वर की कल्पना जिस रूप मे अन्य धर्मों मे की गई है वैसी ईश्वर की कल्पना शिण्टो धर्म मे नही है।

[द्वितीय विभाग]

भौगोलिक दृष्टि से ईश्वर-विचार

पूर्व पृष्ठो मे हमने विभिन्न धर्मों और दर्शनो की दृष्टि से ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार किया। अब भौगोलिक दृष्टि से भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार कर लेना उचित होगा। क्योकि एक ही प्रदेश मे अनेक धर्म और दर्शन एक साथ रहते हैं। इसके अतिरिक्त जन-मानस की धारणाएँ दर्शनो और धर्मों से पृथक भी होती हैं। उन मान्यताओ पर भौगोलिक वातावरण का असर होता है। हम सर्वप्रथम प्रागैतिहासिक काल मे विश्व के सभी अचलो मे फैले हुए आदि-वासियो की ईश्वर-विषयक कल्पना के सम्बन्ध मे उल्लेख करके पौर्वात्य और पाश्चात्य देशो मे प्रचलित ईश्वर सम्बन्धी धारणाओ को प्रस्तुत करेंगे।

आदिवासियो मे ईश्वर

आदिवासियो मे मानव को 'निम्न' और ईश्वर को 'उच्च' मानने की परम्परा बहुत ही पुरानी है। उनका यह विश्वास था कि एक सर्वशक्ति रूप पिता अनन्त आकाश मे है। वह सर्वशक्तिमान् भूत-प्रेत नही है, किन्तु एक विशिष्ट शक्ति है जो कभी-कभी पृथ्वी पर भी आती है और लम्बे समय तक पृथ्वी पर रहती है उसके बाद पुन अनन्त आकाश मे अत्युच्च स्थान पर बैठ कर वह मानवो के प्रत्येक क्रिया-कलाप का निरीक्षण करती रहती है।

मध्य आस्ट्रेलिया के निवासी कोटिशः लोगो का यह मानना था कि उस परम पिता का नाम 'अतनातू' है। वह अतनातू ऊर्ध्वगामी है। अतनातू की सन्तान भी अतनातू ही कहलाती है। उसकी सन्तान मे से जिन्होने अतनातू की उपासना और अर्चना की वे उसके प्रेम-पात्र बन गये और जिन्होने उनकी अवज्ञा की वे स्वर्ग से च्युत कर दिये गये। ईश्वर के 'अतनातू' के अतिरिक्त विविध स्थानो पर आदिवासियो मे 'बइराम' 'था-था-फुली' आदि अलग-अलग नाम प्रचलित थे। हाविट ने लिखा है कि आदिवासी ईश्वर के लिए न बलि चढाते थे, और न उसकी प्रार्थना ही करते थे, परन्तु उनके मन मे परम-पिता के प्रति एक निष्ठा थी।

अरुण्टा भी आदिवासियो की एक जाति है। उन्होने परमपिता ईश्वर को 'त्वानीरिका' शब्द से सम्बोधित किया। प्रारम्भ मे उनका अभिमत था कि वह परमपिता विश्व का स्रष्टा नही है, किन्तु धीरे-धीरे उनके चिन्तन मे परिवर्तन हुआ और वे ईश्वर को निर्माता, कल्याणकर्त्ता और दुष्टो का नाश करने वाला मानने लगे।

भारत की एक आदि जाति संथाल है। सथालो को ईश्वर शक्ति मे विश्वास है। वे अपने ईश्वर को 'सिंग बोगा' के नाम से अभिहित करते हैं। उनमे ईश्वर का नाम 'ठाकुर', 'कन्दू' या 'कान्दू' भी प्रचलित है।

सथाल लोग मन्दिर और मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही रखते। वे आदि शक्ति का निवास पहाड, जगल, नदी, गुफा, आदि मे मानते हैं। उनका अभिमत है कि ये देवता दस प्रकार के हैं—

(१) कान्दो—प्रमुख देवता है, वह जीवन भी प्रदान करता है और जीवन लेता भी है।

(२) अरोक बोगा और अजेय बोगा।

(३) मृत पितरो की शक्तियाँ।

(४) रगो-रुजी—शिकारी शक्ति।

(५) गाँव के देवी-देवता।

(६) गाँव की सीमा शक्ति।

(७) अकाल मृत्यु से मृत बालको की आत्माएँ।

(८) नाट्टियार बोगा—ससुराल और नैहर के देवता।

(९) किसार-बोगा—जो प्रसन्न होने पर धन-समृद्धि देने वाले और अप्रसन्न होने पर मार डालने वाले।

(१०) युद्ध बोगा।

ये देवता क्रोधी, भूखे और मानवो को दण्ड देने वाले हैं। अत. सथाल देवताओ को प्रसन्न करने के लिए बलि चढाते है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि आदिवासियो ने प्रथम आद्य शक्ति को ईश्वर माना, किन्तु बाद मे चलकर वे देवी-देवताओ

को मानने लगे। पहले जहाँ पूजा नही करते, वहाँ पूजा और वलि की प्रथा चली। जो एक प्रकार से विकृति है।

इस प्रकार आदिवासियो मे चमत्कार प्रदर्शन करने वाले अच्छे-वुरे, मगल-कारी-विनाशकारी, कृपालु-उग्र दोनो प्रकार की देव-शक्तियाँ मानी गयी। वे देव-शक्तियाँ प्रसन्न भी होती थी और अप्रसन्न भी। इस प्रकार सभी आदिवासियो की धार्मिक भावनाओ को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं (१) भूत-प्रेत को शान्त करना (२) अति मानव शक्तियो को शान्त करना और (३) एक परम-तत्त्व मे विश्वास करना। इस प्रकार उनमे वहुदेववाद और एकेश्वरवाद दोनो प्रकार की विचारधारा प्राप्त होती है।

साथ ही, आदिवासियो मे ग्राम देवता, सीमा देवता आदि विविध प्रकार के देवो की कल्पनाएँ भी पनपने लगी। इन देवो का धीरे-धीरे मानवीकरण हुआ। साथ ही जो व्यक्ति सद्गुणो से अलकृत हुआ, उसे देव स्वरूप माना गया और धीरे-धीरे वह परमपिता, जगत्नियन्ता, सर्वश्रेष्ठ और महान् शक्ति का प्रतिनिधि वनकर उपास्य वन गया। भारतीय परम्परा मे अवतारवाद का मूल वीज आदिवासी विश्वासो मे पाया जाता है।

असीरिया और वेविलोनिया मे ईश्वर-कल्पना

आधुनिक इतिहासकारो का मन्तव्य है कि असीरिया-वेविलोनिया की सस्कृति और सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है। इसमे प्रकृति की पूजा होती थी। पहले वहुदेववाद प्रचलित था। ससार की श्रेष्ठता और अधमता, उच्चता-नीचता, अच्छाई-वुराई का प्रतिनिधित्व करने वाली अच्छी-वुरी शक्तियो पर इनका विश्वास था।

वेविलोनिया निवासी त्रि-शक्ति मे विश्वास रखते थे। उनकी दो देव-त्रयी हैं—

पहली देव-त्रयी मे—

(१) अनु—आकाश देवता जो स्वर्ग का स्वामी है।
(२) वले—पृथ्वी देवता।
(३) हुआ—जल देवता जो पाताल का स्वामी है।

दूसरी देव-त्रयी मे—

(१) शम्स [सूर्य], (२) सिन [चन्द्र], (३) इश्तर [मगलदेव] थे।

इन छह देवो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक देव थे जैसे—'रम्मान'—जो भयकर आँधी, तूफान, वर्षा और विद्युत-शक्ति को अपने नियन्त्रण मे रखता था। वे ग्रह-देवताओ की भी उपासना करते थे, जैसे—निनिव [शनि], मर्दुक [वृहस्पति], नेर्गल [शुक्र] आदि। वेविलोनिया के निवासियो ने देवो के साथ उनकी पत्नियाँ, पुत्र-पुत्रियाँ, दास-सेवक आदि की भी कल्पना की और लघु देवता मानकर वे उनकी भी अर्चना करते थे।

असीरिया के निवासियो का 'असुर' नामक एक विशिष्ट केन्द्रीय शक्ति पर विश्वास था। यह 'असुर' प्राकृतिक शक्ति नही थी अपितु उनका एक राष्ट्रीय देवता था और वे उसे अपना उपास्य देवता मानते थे। इस प्रकार इनमे एकेश्वरवाद प्रचलित था।

चीन में ईश्वर-कल्पना

चीन मे ईश्वर के अर्थ मे दो शब्द व्यवहृत होते थे—'शाग-ती' [ऊपर वाला सम्राट] और 'ती-ईएन'।

शाग-ती को प्रसन्न करने के लिए सर्वप्रथम चीन के पीत सम्राट [२६९७-२५९८ ईसा पूर्व] ने वलि चढायी थी। उसके बाद सम्राट कू [२४३५-१२६६ ईसा पूर्व] ने शाग-ती की आराधना करके वलि चढायी थी। तदनन्तर वू तिन राजा [१३२४-१२६६ ईसा पूर्व] ने शाग-ती की प्रार्थना की तो उसको देव ने सपने मे आशीर्वाद दिया। इस प्रकार ईसा पूर्व १२वी शताब्दी तक ईश्वर के लिए 'शाग-ती' नाम चलता रहा, तदनन्तर 'ती-ईएन' नाम प्रचलित हुआ।

हान वंश के वेन-ती [१७९-१५७ ईसा पूर्व] राजा ने 'शाग-ती' के स्थान पर निम्नलिखित आठ देवताओ की पूजा चालू की (१) आकाश स्वामी, (२) पृथ्वी स्वामी, (३) युद्ध स्वामी, (४) योग स्वामी, (५) थिन स्वामी, (६) चन्द्र स्वामी, (७) सूर्य स्वामी, और (८) चार ऋतुओ के स्वामी।

शाग-ती के साथ-साथ अन्य देवताओ की आराधना होने लगी और उनके लिए विशेष वलिवेदियाँ वनायी जाने लगी। 'शाग-ती' को आकाश शब्द का नाम देकर उसके भीतर सब प्रकार के उच्च, दैवी, उदात्त, भव्य गुणो का समावेश किया गया। इस प्रकार चीन मे बहुदेववाद के साथ एकेश्वरवाद की विचारधारा भी प्रचलित थी।

जापान मे ईश्वर कल्पना

जापान मे ईश्वर के अर्थ मे 'कामी' शब्द प्रयुक्त होता था। यो 'कामी' शब्द आकाश, पृथ्वी व अन्य कई प्राकृतिक देवी-देवताओ के लिए भी प्रयुक्त होता था। धीरे-धीरे मानव के अतिरिक्त पशु-पक्षी, पेड-पौधे, समुद्र-पर्वत प्रभृति विलक्षण शक्तियो के लिए भी 'कामी' शब्द का व्यवहार होने लगा। "कामी" देवों मे दोनो प्रकार के देवो का जो अच्छे प्रभाव वाले थे और जो बुरे प्रभाव वाले थे, व्यवहार होने लगा। प्रारम्भ मे जापानी प्रकृति के उपासक थे। सभी प्राकृतिक शक्तियो को देव मानकर वे उनकी उपासना करते रहे। अन्य पडौसी देशवासियो के धर्मों का भी उन पर प्रभाव पडा। जिसके फलस्वरूप जापानी देवताओ की सख्या शनै-शनै बढती रही और आज १,९०,४३६ शितो देवता हैं। इन सभी देवताओ को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) पौराणिक देवता, (२) देशभक्त और वीर पुरुष, (३) प्राकृतिक चमत्कारी शक्तियाँ, और (४) कई प्रकार के पशु-प्राणी और वस्तुएँ।

जापान मे कोई भी शक्तिशाली महत्वपूर्ण वस्तु को आराध्य देव के रूप में माना है। इस प्रकार वहुदेवतावाद मानने पर भी जापानियो मे एकेश्वरवाद का प्राधान्य चीन के द्वारा आया। जापान का मुख्य धर्म शितो है, जिस पर हमने अन्यत्र इसी निवन्ध मे विचार किया है।

मिस्र मे ईश्वर-कल्पना

आधुनिक इतिहास की दृष्टि से मिस्र की सस्कृति और सभ्यता भी वहुत प्राचीन है। मिस्र की प्राचीन लिपि, 'चित्र लिपि' थी। इस चित्र लिपि मे ईश्वर वाचक शब्द को बताने के लिए एक तारा का चिन्ह ★ वताया जाता था। तारा पचमुख के रूप मे है। इसके पीछे उनकी क्या कल्पना थी ? यह स्पष्ट नही है। उसके पश्चात् ईश्वर के दिव्य रूप को चिन्हित करने वाला वाज पक्षी का चिन्ह है। यूरियस (सर्प) के रूप मे देवी का चित्र प्राप्त होता है। मिस्र भाषा मे 'नूत्र' शब्द ईश्वर के अर्थ मे आया है।

मिस्र राज्य के मध्य मे नील नदी वहती थी। उसके सन्निकट प्रदेश मे पहले एकेश्वरवाद था और उसके साथ ही वहुदेववाद का भी प्रचलन था। वे लोग अमरता की सप्राप्ति हेतु रहस्यमयी अर्चनाएँ भी किया करते थे। मिस्र के चित्र-लेखो के अध्येताओ का कहना है कि मिस्र निवासी एक शक्ति विशेष की अर्चना किया करते थे जो पहले थीव्स का राजा था और होलियो पौलिस का राजपुत्र था। वह 'सर्वोच्च मुकुट' के सदृश माना जाता था। वही सृष्टि का सर्जक था, अदृश्य रहकर वह जन-जन की प्रार्थना को सुनता, उसके सदृश विश्व मे कोई नही था। वह 'आमोन' 'रा' या 'प्ताह' भी कहलाता था। यह देव सवसे वड़ा देव था। उसके स्वरूप को जानना अत्यन्त कठिन था। इसके अतिरिक्त वहाँ अन्य अनेक लघु देव भी थे। 'रा' के विभिन्न क्षेत्रो की दृष्टि से विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् 'इसिस' सवसे महान् देवी मानी गयी।

मिस्र मे वश देवता की अर्चना भी वरावर होती रही। जो भी फरोहा राज-गद्दी पर आसीन होता, अपने वश देवता की पूजा करने पर वल देता था। इस प्रकार देवताओ का माहात्म्य वढ़ता चला गया। सारे मिस्र मे सूर्य देवता 'रा' के के रूप मे और मृतको के देवता 'आसेरिस' सर्वत्र आदर की निगाह से देखे जाते थे और उनकी अर्चना भी चलती थी। निम्न वर्ग के लोग भूत-प्रेत आदि से सुरक्षा के लिए 'वेस', जन्म देवता 'थ्यूरिस', पाताल लोक का देवता 'अमे-थेस', धान्य सुरक्षा के देवता 'नेपरो' की पूजा किया करते थे। मिस्र के देवताओ मे कुछ देवता राजा की तरह उच्च थे तो कुछ उनके अधीन और छोटे थे। जिस प्रकार मानव को भूख-प्यास, आनन्द, शोक, भय-वीमारी, वृद्धावस्था और मृत्यु सताती है उसी प्रकार उन देवो को भी वे सारी चीजें सताती हैं, ऐसा मानकर मिस्रवासी देवो को अर्घ्य, वस्त्र, नैवेद्य, आभूषण, सुगन्धित पदार्थ, उद्यान, सरोवर, नौका, दास-दासियाँ आदि

समर्पित करते थे। इस तरह मिस्रवासियो मे देवी-देवताओ की कल्पना आदिवासियो की कल्पना से मिलती-जुलती है। कही-कही पर एकेश्वरवाद की झलक मिलती है पर मन्त्र-तन्त्र, यन्त्र, जादू-टोना आदि के अन्धविश्वास मे एकेश्वरवाद धूमिल हो गया था।

यूनान में ईश्वर-कल्पना

यूनान विश्व का एक प्रमुख देश रहा है। वहाँ पर प्रारम्भिक काल मे प्राकृतिक शक्तियो की, वन्य पशुओ की और जितनी भी भयोत्पादक वस्तुएँ है, उनको प्रसन्न करने के लिए उनकी अर्चना की जाती थी। वहाँ पर भी एक वश का देवता माना जाता था। वह अदृश्य रूप मे सुरक्षा, सुख और समृद्धि प्रदान करता है, ऐसा उनका विश्वास था। मृत-पूजा मे भी उनका विश्वास था। आदिवासियो के देवो को भी उन्होने अपनाया। उनका सबसे बडा आराध्य देव 'जिउस' था और उसकी पत्नी 'दिओने' थी। इनके अतिरिक्त विभिन्न देवो की कल्पनाएँ वहाँ पर खूब पनपती रही। होमर ने, जो यूनान का आदिम कवि था, अपने महाकाव्य मे देवताओ के छः लक्षण निरूपित किये हैं, वे इस प्रकार हैं :

(१) वे अमर हैं, उनका निवास ओलिम्पस है। वहाँ न रहने पर भी वे अमर ही थे, भले ही अन्य स्थानो पर वे क्यो न रहे हो।

(२) वे बहुत ही सुख-सुविधाओ से रहते है। उन्हे किसी भी प्रकार का कष्ट नही है।

(३) वे देव अम्ब्रोशिया खाते हैं और अमृत का पान करते हैं किन्तु मृत्युलोक की किसी वस्तु को नहीं खाते।

(४) वे देव अदृश्य हैं। पर कभी-कभी वे विविध रूपो मे प्रकट भी होते हैं।

(५) वे सर्वमगलप्रदाता हैं।

(६) वे देव निन्दा करने वालो को दण्ड प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि जो उनका विरोध करता है, उन्हे वे नरक मे भेज देते है। वे वेष परिवर्तन कर मानवो की विविध प्रकार से परीक्षाएँ लेते हैं। कोई भी व्यक्ति अनुचित कर्म नही करे, इसका वे पूर्ण ध्यान रखते हैं।

होमर के पश्चात् हेसियोड ने अपनी कविता मे देवताओ के अमूर्त्त-गुण, न्याय-प्रियता, क्षमा, दया आदि का चित्रण किया है। धीरे-धीरे प्रत्येक कला मे देव-देवियो के प्रतीक चिह्न उट्टकित किये जाने लगे। कलाकार अपनी कला की चमत्कृति दिखाने के लिए देव-देवियो की मूर्तियो को सजाने लगे। देव-देवियो की कल्पना के साथ उनमे ईश्वर कल्पना भी प्रतीत होती है जो सभी शक्तियो पर नियन्त्रण करता है।

यूनान मे नग्न मूर्तियो का अधिक प्रचलन हुआ। देवी-देवताओ के मुक्त प्रणय की कहानियाँ अत्यधिक प्रचलित हुईं। अडोनिस (कामदेव) की पूजा महिलाओ मे

अधिक प्रिय हुई। किन्तु बाद मे देवता सम्बन्धी विश्वास परिवर्तित होते गये। इतिहासकार हिरोटोडस ने ईश्वर को मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो रूपों मे माना है। उसने यह भी उल्लेख किया है कि देवता क्रूरता के प्रतीक हैं। इस प्रकार निराशावाद के तत्त्व पनपने लगे और शनै-शनै ईश्वर के स्थान पर नियति की तीन अन्धी देवियाँ प्रस्थापित हुई।

ईसा के पूर्व पाँचवी सदी मे ऐसी कल्पना प्रचलित हुई कि देवता जन-जीवन की विषमता को और विरोधो को मिटाते हैं। वे समन्वय और शान्ति के पुनीत प्रतीक हैं। ये सच्चे न्याय प्रदाता हैं। उसके पश्चात् यूनानी यह मानने लगे कि मानवीय-जीवन मे जो भी उतार-चढाव आते हैं, उनका कारण मानव का स्वयं पुरुषार्थ है, किन्तु दैवी-शक्तियाँ कुछ नही करती है।

सुकरात ने सत्य को ही ईश्वर माना। उसने पुरानी कल्पना पर आधृत देव-कहानियो को मिथ्या बताया। प्लेटो ने ईश्वर को अप्राकृतिक माना और असहज मानव के रूप ईश्वर की कल्पना की। वह ईश्वर को 'शिवम्' मानता है। ईश्वर कभी भी राग-द्वेष नही करता, सारी दुनिया ईश्वर की इच्छा से चल रही है। ईश्वर ही 'अटलास' है, जिसके बलिष्ठ कन्धो पर पृथ्वी टिकी हुई है। उसने एकेश्वरवाद को महत्त्व दिया। फिर यूनानी चिन्तनधारा मे दो विभाग हुए। एक विभाग एपिक्यूरस का सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त की तुलना चार्वाकदर्शन से की जा सकती है। वह "खाओ, पीओ और मौज उडाओ" (Eat, drink & be merry) इस बात पर बल देता है। दूसरा विभाग स्टोइक है, जिसने मानव के अन्तर्मानस और दृढ-सकल्प मे ईश्वरेच्छा को प्रधान स्थान दिया। उन्होने आत्म-सयम पर बल दिया है।

ईसा की प्रथम सदी तक मिस्र और ईरान के धर्मों के प्रभाव से यूनानियो मे बहुदेववाद और एकेश्वरवाद का द्वन्द्व समाप्त हो गया और एकेश्वरवाद स्थिर हुआ।

ट्यूटानिक जातियो मे ईश्वर-कल्पना

ट्यूटानिक लोग पहले चार प्रकार के देवो मे विश्वास रखते थे—(१) वूआनाज (मृतको और हवाओ का देवता), (२) पोनाराज (तूफानी गरज और आकाश का देवता), (३) तीवाज (युद्ध का देवता), (४) फ्रिआ या फ्रिग देवी (प्रिया या पत्नी)। नार्वे मे भूत-प्रेतों पर जन-मानस की ही निष्ठा थी। जो सबसे बडा था वह 'भूतनाथ' या 'महादेव' था। उसे वे अपनी भाषा मे "वोदान" कहते थे। उन लोगो का विश्वास था कि वोदान जीवन और मरण का स्वामी है। वह बहुत ही क्रूर है, वह मानवो के प्राण-हरण कर लेता है। वह शनै-शनै युद्ध देवता के रूप मे उपास्य हो गया और उसके पश्चात् वह आकाश देव के रूप मे आराध्य बना तथा वह प्राचीन पितृ देवता "असास" भी बन गया। वोदान ईहन और दोनार पोर थोर तथा ज्युतीर अन्य देवो के नाम थे। इनके अतिरिक्त फे, होल्डेर, या वाल्डेर, हारमडालूट आदि छोटे देवता भी थे।

ट्यूटानिया मे देवों की एक लम्वी सूची मिलती है। यहाँ पर ईश्वर वाचक गोथिक 'ग्रुप', प्राचीन उच्च जर्मन 'गॉट', प्राचीन सैक्स 'गाड', जर्मन 'गात्जे' आदि विविध शव्द थे। भाषाशास्त्रियो का मानना है कि ये शव्द मूर्ति या प्रतिमा के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। ट्यूटानियो का यह दृढ विश्वास था कि सर्वोत्तम ईश्वरीय अश मूर्ति मे रहता है। यह स्पष्ट है कि ट्यूटानिको का वहुदेववाद के साथ उच्च ईश्वरीय सत्ता मे भी विश्वास था।

ईरान में ईश्वर-कल्पना

प्राचीन ईरान मे ईश्वर सम्वन्धी कोई भी कल्पना उपलब्ध नही होती। ईसा पूर्व पाँचवी सदी तक ईरानी लोग उच्च पर्वतो पर चढकर "जिउस" नाम के ग्रह-गोलो की उपासना करते थे, वलि चढाते थे। प्रकृति की उपासना करना ही उनका मुख्य धर्म था। आकाश की पूजा मे इनका पूर्ण विश्वास था। "स्फिगेल" के मन्तव्यानुसार इनके आकाश देवता "त्वाश" थे। उसके वाद आधुनिक फारसी मे वह "सिपिहिर" हो गया। ईरानी सूर्य और चन्द्र की पूजा भी करते थे। 'अवेस्ता' मे वही 'ह्वार' और 'माह' वताया गया है। इतिहासकार हिरोडोटेस का मन्तव्य है कि जिउस की पत्नी पृथ्वी थी, जिसको "अरमैती" कहा जाता था। ईरानी लोग अग्नि को "आतर" (आतिश) और 'अपाम नपात' (पानी का पुत्र) कह कर उसकी उपासना करते थे। ये अपने देवता को 'आहुर' या 'दैव' कहते थे। 'ह्राओम' (सोम रस) इनकी एक महत्त्वपूर्ण देवी थी। 'फ्रवशी' (पितृपूजा) की आराधना भी प्रचलित थी। अहुरो मे "आहुर मज्दा" (सर्वश्रेष्ठ वुद्धि वाला देव) की उपासना ईरान मे ईसा पूर्व दो हजार वर्षों से होती थी। इस तरह ईरान मे विविध देव-देवियो की उपासना प्रचलित थी, उसमे आहुर मज्दा को उन्होने सर्वश्रेष्ठ देव माना, वह ईश्वर है, ऐसा उनका अभिमत था।

जरथुष्ट्र ईरान के धर्मोद्धारक थे। वे क्रान्तिकारी थे। जन मानस मे ईश्वर सम्वन्धी जो अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट धारणाएँ थी, उनको उन्होने व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। 'अवेस्ता' मे उन्होने ईश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वताया कि 'आहुर मज्दा' स्वर्ग एव आकाश तथा अग्निशिखाओ को धारण करता है। वह मूलत. मैन्यु (आत्म-तत्त्व) है, स्पेंता (दयालु और पवित्र) है। वह सृष्टिकर्ता है, प्रकाश व अन्धेरे का निर्माता है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वस्थ, सर्वदर्शी, स्वामी है, वह अमर है, अपरिवर्तनशील है।

ईरानियो के विश्वास के अनुसार आहुर मज्दा की तरह एक और शक्ति है—'आग्रा मैन्यू' जो पापात्मा है। वह सन्तो को दु ख देती है। यह आहुर मज्दा से बिल्कुल उल्टी प्रकृति वाली तथा शैतानी शक्ति है। मज्दा के छ गुणो का भी वर्णन है—(१) वोहुमना (सर्वोत्तम मन या आत्मा), (२) आशा वहिष्ट (पूर्णता और पुण्य का भण्डार), (३) स्थशत्र वैर्य (शान्ति वीर्य), (४) आरमैती (पवित्रता या भक्ति), (५)

हौर्वतात (स्वास्थ्य) और (६) अमेरेतात (अमरता)। आहुर मज्दा को वही व्यक्ति उपलब्ध कर सकता है, जिसके जीवन मे आचार, विचार, उच्चार तथा भावना मे सत्य और शुचिता हो।

□

[तृतीय विभाग]

प्रज्ञा पुरुषों की दृष्टि में ईश्वर

भारत के दर्शन प्रवर्त्तको ने ही नही, अपितु विश्व के इतर चिन्तको ने भी ईश्वर और उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे पृथक्-पृथक् रूप से विचार प्रस्तुत किये है। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ इतना अत्यधिक विभिन्नता लिये हुए है कि सामान्य मानव समझ नही पाता कि ईश्वर का अस्तित्व है भी या नही ? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है ? वह एक दूसरी से विरुद्ध मान्यताओ एव कल्पनाओ के जाल मे उलझ जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध मे, जितने भी दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक और साहित्यकार हुए, उन्होने अनेक प्रणालियो का आश्रय लिया है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए या उसके अस्तित्व का खण्डन करने के लिए भी अपने ढग से प्रबल तर्क दिये हैं।

मानव जिज्ञासु है, वह जानना चाहता है कि प्राग् ऐतिहासिक काल के आदिम जातियो से लेकर आधुनिक काल तक ईश्वर का चिन्तन किस रूप मे हुआ है ? दर्शन के इतिहास मे प्लेटो-अरस्तू से लेकर जोसिया-रायस और विलियम जेम्स तक तथा आधुनिक वैज्ञानिको और चिन्तको ने किस दृष्टिकोण से ईश्वर का चित्रण किया है ?

चिन्तन के इतिहास मे ईश्वर के अर्थ मे किस प्रकार शब्दावली व्यवहृत हुई है ? हमे उन ईश्वरपरक शब्दो के वास्तविक अर्थ से परिचित होना चाहिए। यूनानी भाषा मे एक शब्द है—'थी-इज्म'। यह शब्द व्यक्तिगत और आध्यात्मिक सत्ता के रूप मे ईश्वर के लिए प्रचलित है। अग्रेजी का शब्द 'डीइज्म', लैटिन भाषा का 'डायस' शब्द ईश्वर को सृजनकर्त्ता और नियामक के रूप मे स्वीकार करता है। अग्रेजी का शब्द 'पैंथीइज्म' यूनानी भाषा के दो शब्दो के मिलन से बना है, जिसका अर्थ सर्व तथा ईश्वर है। इसके अभिमतानुसार ईश्वर ही सर्वस्व है और सर्वस्व ही ईश्वर है। इसमे ईश्वर का प्रकृति या जगत के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया हैं। अग्रेजी शब्द 'पालीथीइज्म' का अर्थ है—धर्म का कोई तन्त्र या सिद्धान्त जो बहु ईश्वरो मे आस्था रखता हो। अंग्रेजी के शब्द 'मानोथीइज्म' का अर्थ है—वह सिद्धान्त जो ईश्वर के एक होने पर वल देता है। 'एथीज्म' शब्द ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करता है। आधुनिक चिन्तन मे यह निरीश्वरवाद 'अज्ञेयवाद' के रूप मे विश्रुत है।

काण्ट ने अपने 'क्रिटिक' और 'प्योर रीजन' मे ईश्वर की ससिद्धि के लिए जो अनेको प्रमाण थे, उन्हें कम करके तीन प्रमाणो मे सीमित किया है—(१) विश्व-कारण युक्ति (२) प्रयोजनात्मक युक्ति तथा (३) प्रत्यय सत्ता युक्ति।

जव हम 'ईश्वर' शब्द के अर्थ तथा ईश्वर के स्वरूप पर चिन्तन करते है तो बचपन के चित्रो से प्रभावित होकर ईश्वर को मनुष्य के रूप मे व्यापक तथा गौरवान्वित देखते हैं और उसमे मनुष्य के शरीर व गुण आरोपित करते है। ईश्वर को मनुष्य रूप मे देखने की इस प्रवृत्ति को 'मानवत्वारोपण' कहते हैं। पर यूनानी दार्शनिक कवि जैनोफेन्स से लेकर आधुनिक आलोचकों तक अनेको ने इसका उपहास किया है।

अधिकाश लोगो के विचार मे ईश्वर शब्द का तात्पर्य उस दैवी सत्ता से है, जिसे अन्तरात्मा कहते हैं तथा जो सत्य और सर्वशक्तिमान् है और जिसका हमारे प्रारब्ध पर आधिपत्य है। वे उसे जगत् का निर्माणकर्त्ता, नीति-नियामक एव निर्णायक भी मानते हैं तथा विश्वास करते है कि अन्तर्यामी रूप मे वह जगत् मे सर्वत्र स्थित है।

ईश्वर एक ऐसी अज्ञात एव रहस्यपूर्ण अद्भुत शक्ति है जो भयानक होने पर भी सुहावनी है तथा जो स्वय को प्रकृति की उत्पादक शक्ति मे, जीवन और मृत्यु मे, तूफान, महासागर, बिजली, सूर्य, प्रकाश, वर्षा आदि मे अभिव्यक्त करती है। इसीलिए ईश्वर, निरपेक्ष, शाश्वत, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक आदि गुणो से उसे विभूषित माना जाता है।

इमर्सन जैसे महान् दार्शनिको के लिए ईश्वर, 'बुद्धिमता, पूर्ण शान्ति, सार्व-भौम सौन्दर्य तथा शाश्वत' अति-आत्मा है। तो वर्ड्सवर्थ के लिए वह व्याकुल करने वाली सत्ता है।

डेकार्टे के अभिमतानुसार प्रत्येक वस्तु पर सन्देह करने वाला मानव अपने आप पर सन्देह नही करता। सन्देह एक प्रकार का विचार है जो यह सिद्ध करता है कि पूर्णता जैसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए और पूर्णसत्ता भी अवश्य होनी चाहिए। वह पूर्ण सत्ता ईश्वर है। एतदर्थ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और परम विशुद्ध होना चाहिए। डेकार्टे ने मानसिक तत्त्व और शारीरिक तत्त्व को पृथक माना था। पर वह किस कारण से है, इसका वह समाधान नही कर सका। किन्तु उसके शिष्यो ने मानसिक और दैहिक व्यापारो का कारण ईश्वर माना, जो मन एव शरीर के व्यापारो मे सामंजस्य स्थापित करता है।

मॉल ब्रॉक ने बताया—हमारी सम्पूर्ण विचारधाराएँ ईश्वर के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। वही सम्पूर्ण विचारधाराओ का केन्द्रविन्दु है। किन्तु ईश्वर शरीरधारी

नही है और न आध्यात्मिक ही है। यह तो सर्वोच्च और शुभ है। एतदर्थ ही मानव उसकी अभ्यर्थना करता है।

स्पिनोजा ने ईश्वर को अनेक गुण युक्त विशिष्ट तत्त्व माना है। वह तत्त्व अविभाज्य है, शाश्वत है, अनन्त है और सभी पदार्थों का एक मात्र आधार है। वही सम्पूर्ण विश्व का नियन्ता है। सारा विश्व उसी से निसृत है। ईश्वर असीम है, सख्या, अश, समय से परे है; जिन्हे हम ईश्वर के गुण कहते हैं वे गुण केवल वैचारिक रूपो के नाम है जिनके आधार पर हमारा मन ईश्वर को समझने का प्रत्यन करता है। स्पिनोजा ने तीन प्रकार के ज्ञान को स्वीकारा है—ऐन्द्रिय सवेदन, वुद्धि और प्रज्ञा। ईश्वरीय तत्त्व का परिज्ञान प्रज्ञा द्वारा हो सम्भव है। पर वुद्धि भी ईश्वर के अनन्त मन का अश है। उसके मतव्यानुसार सम्पूर्ण जगत् मे ईश्वर है। जो कुछ भी दृग्गोचर होता है वह ईश्वर मे ही है और रहता है तथा गतिशील होता है।[1]

लॉक का मन्तव्य है कि ईश्वर को जानना सम्भव है। क्योकि हमारे अन्तर्मानस मे ईश्वर की आकृतियाँ और धारणाएँ अवस्थित हैं। जव हम वाह्य जगत् को देखते है एव मानव की शक्ति को निहारते हैं तव हम यह चिन्तन करने के लिए वाध्य होते हैं कि इन विराट शक्तियो का सर्जक कोई महान् सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रज्ञा स्कन्ध सत्ता अवश्य है और वह सत्ता ईश्वर ही होनी चाहिए।

वर्कले के विचारानुसार ईश्वर सभी प्राणियो के अन्तर्मानस को नियन्त्रित करने वाली शक्ति विशेष है। वह सभी को ज्ञान प्रदान करता है। हमे जो कुछ भी सवेदनाएँ होती हैं, वे सभी ईश्वर के कारण होती है। हम ईश्वर के असली स्वरूप को नही जान पाते हैं। हम उसके सम्वन्ध मे उतना ही जान पाते हैं, जितना वह हमे परिज्ञान कराता है।

जॉन कॉल्विन, जॉन टोलेण्ड, तिण्डल प्रभृति चिन्तको का अभिमत है कि ईश्वर नियन्ता है और ऐसा विश्व का निर्माता है, जैसा एक घडीसाज घडी का निर्माण करता है। घडी जव तक चलती रहती है, वहाँ तक घडीसाज उसमे हस्तक्षेप नही करता, वैसे ही ईश्वर तव तक हस्तक्षेप नही करता जव तक विश्व अपने नियमो का उल्लघन नही करता।

जिस समय सशयवाद की आँधी चल रही थी कि ईश्वर है या नही और इस प्रश्न पर गहराई मे चिन्तन चल रहा था, वहुत से विज्ञो का अभिमत था कि ईश्वर नाम का कोई तत्त्व नही है। किन्तु रूसो ने उस संक्रान्तिकाल मे भी ईश्वर पर निष्ठा व्यक्त की। उसने कहा—वौद्धिकता की तराजू पर ईश्वर को तोला नही जा

---

1 "I say, All is in God, all lives and moves in God"

—Spinozna in his Correspondence, Epistle 21.

सकता। बुद्धि से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना सम्भव नही है। ईश्वर और किसी को पसन्द नही करता, वह तो हृदय की भक्ति चाहता है।[1]

लाइवनीज ने ईश्वर को चिद्-विन्दुओ का बिन्दु माना है। काण्ट का कहना है—यदि ईश्वर को न माना जायेगा तो पूर्ण नैतिकता का आदर्श अपूर्ण ही रहेगा। अच्छे कार्यों का फल देने वाली और कुकृत्यकारियो को दण्डित करने वाली कोई न कोई सत्ता अवश्य ही होनी चाहिए और वही सत्ता ईश्वर है। हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति पर निष्ठा रखने वाला था। उसका अभिमत था कि विश्व की प्रत्येक वस्तु मे स्थापना, प्रतिस्थापना और सामजस्य की रीति से ही गतिशीलता होती है। यह विचारधारा अत्यधिक प्राचीन है। एम्पेडोक्लीज, अरिस्टाटल, शेलिंग और फिकेट मे ये ही स्वर सुनायी देते हैं। हीगल की विचारधारा है कि धर्म का कार्य है—उस परम सत्ता तक पहुँचना और उसकी अनुभूति करना। परम-सत्ता एक ऐसी विशिष्ट सत्ता है, जिसमे जड और चेतन, विषय और वस्तु, शुभ और अशुभ एक हो गये हैं।

ब्रेडले ने सत्य को एकरूपता कहकर शब्दो की परिधि मे बाँधने का प्रयास किया है। उसका मन्तव्य है कि सत्य एक प्रकार की पूर्ण अनुभूति है जिसमे हमारे अनुभवो की आशिक सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। वह ईश्वर को शुभ और सीमित मानता है क्योकि यही एक उपाय है जिससे एक परिपूर्ण वास्तविक इच्छा और वैयक्तिक इच्छा का अन्तर्विरोध मिटाया जा सकता है।

बोझाके का मन्तव्य है कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तत्त्व-शास्त्रीय या धर्मशास्त्रीय तर्क अपूर्ण हैं। अनुभव से ही ईश्वर का परिज्ञान सही रूप से होता है। रायस ईश्वर को सर्वान्तिर्यामी मानता है। उसकी दृष्टि से सर्वान्तिर्यामी का तात्पर्य है—ईश्वर को अपने सत्य के विषय मे प्रत्यक्ष तथा अलौकिक दृष्टि प्राप्त है। प्रत्येक मानवीय चेतना मे भी विचार और अनुभव का पार्थक्य पाया जाता है। जिस सत्ता मे विचार और अनुभव की पृथकता नही है वह अपने आप मे पूर्ण है और वही ईश्वर है। ईश्वर निरपेक्ष तथा परम सत्ता है।

हाविसन आध्यात्मिक जगत की सत्यता को, ईश्वर और मनुष्य समाज इन दो पक्षो के सामजस्य मे पाता है। वह ईश्वर के पितृत्व और मानव के भ्रातृत्व को मानता है। सर्जक और द्रष्टा दोनो समान और पारस्परिक रूप से सत्य हैं, पर वे एक नही हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्य के कुछ कर्तव्यो को मानते हुए हाविसन कहता है कि मनुष्य भी उतना ही सत्य एव अनश्वर है जितना स्वय ईश्वर है।

उपसहार

पूर्व पृष्ठो मे हमने विस्तार के साथ ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाओ और उसके विभिन्न रूपो पर चिन्तन किया है। सभी परम्पराओ मे ईश्वर की कल्पना के सम्बन्ध मे एकरूपता नही रही है। उसमे देश, काल और वैचारिक विकास के अनुसार परि-

---

1 "The move I strive to prove the infinite being I God, the less do I understand is, but I feel that he is enough for me"

वर्तन होता रहा है। कभी प्राकृतिक शक्तियो मे दैवी-कल्पना कर उन्हे ईश्वर मानकर उनकी उपासना की गयी, कभी विविध देवी-देवताओ की कल्पना कर उनमे ईश्वरत्व का आरोप किया गया। कभी ईश्वर को एक विशिष्ट शक्ति के रूप मे मानकर उसकी अर्चना की गयी। कभी साकार ईश्वर को तो कभी निराकार ईश्वर को माना गया। इस प्रकार ईश्वर सम्बन्धी विचारधाराओ मे प्राग् ऐतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक जो विकास हुआ है, उसको हम सक्षेप मे ग्यारह भागो मे विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्राकृतिक शक्तियो को ईश्वर मानना।

(२) जीवन या प्रकृति मे घटित चमत्कारो का ईश्वरीकरण।

(३) रोग या कष्ट से मुक्त करने वाली शक्तियो की पूजा।

(४) अपने से वडे, भयावह प्राणी का, आदर भावना से दैवीकरण।

(५) राजा, सम्राट या वीर पुरुष का दैवीकरण।

(६) पुरोहित या धर्मगुरु को ईश्वर मानना।

(७) कई छोटे-वडे देवी-देवताओ की माला मे सुसूत्रता लाने के लिए एक महादेव की कल्पना।

(८) मातृरूपा महाशक्ति या पराशक्ति की पूजा।

(९) देवाधिदेव की अमूर्त कल्पना—ब्रह्म, ऋत्, परम तत्त्व आदि।

(१०) यह मानना कि सर्व धर्मों के मूल मे एक ही ईश्वर तत्त्व अनुस्यूत है। विविध धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसी सर्व-धर्म-सम्भावना का विस्तार।

(११) ईश्वर वस्तुत परमात्मा, निरजन, निर्विकार, विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट चेतन स्वरूप—आत्मा है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त सामर्थ्य सम्पन्न है। वह जगत का कर्ता, हर्ता, धर्ता है, क्योकि जगत शाश्वत होने के कारण कभी उत्पन्न नही होता।

ईश्वर की उपलब्धि के लिए विश्व के विविध धर्मों ने अपनी-अपनी दृष्टि से मार्ग प्रतिपादन किये हैं। यदि हम शब्दो के जाल मे न उलझकर समन्वयात्मक दृष्टि से चिन्तन करें तो सहज ही परिज्ञात होता है कि सभी चिन्तको का स्वर एक ही रहा है। सभी ने हृदय, मस्तिष्क और कर्मेन्द्रिय इन तीनो के माध्यम से आत्म-विकास हेतु तीन मार्ग प्रदर्शित किये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विविध धर्मों के तीन मार्ग दिये जा रहे हैं।

क्रमांक	धर्म	मस्तिष्क	हृदय	कर्मेन्द्रिय
१	हिन्दू	ज्ञानमार्ग	भक्तिमार्ग	कर्ममार्ग
२.	इसलाम	हकीकत (अकायद)	तरीकत (इबादत)	शरीयत (मामिल)
३.	यूनानी	ग्नोसिस	पाएटास	दर्नजिया
४	ईसाई	इल्यूमिनेशन	मिस्टिसिज्म	चैरिटी
५	बौद्ध	सम्यक् दृष्टि	सम्यक्-संकल्प	सम्यक्-व्यायाम
६.	जैन	सम्यग्ज्ञान	सम्यग्दर्शन	सम्यक्-चारित्र

३

जैन योग : एक अनुशीलन

भारतीय संस्कृति मे योग का अत्यधिक महत्त्व रहा है। अतीत काल से ही भारत से मूर्धन्य मनीषीगण योग पर चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते रहे हैं; क्योकि योग से मानव जीवन पूर्ण विकसित होता है। मानव-जीवन मे शरीर और आत्मा इन दोनो की प्रधानता है। शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। पौष्टिक और पथ्यकारी पदार्थों के सेवन से तथा उचित व्यायाम आदि से शरीर पुष्ट और विकसित होता है, किन्तु आत्मा का विकास योग से होता है। योग से काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकृतियाँ नष्ट होती हैं। आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ आवृत हैं वे योग से अनावृत होती हैं और आत्मा की ज्योति जगमगाने लगती है।

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है। उसका सही अर्थ क्या है ? उसकी क्या परम्परा है ? उसके सम्बन्ध मे चिन्तक क्या चिन्तन करते है ? और उनका किस प्रकार योगदान रहा है ? आदि प्रश्नो पर यहाँ पर विचार किया जा रहा है।

योग शब्द 'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय मिलने से बनता है। 'युज्' धातु दो हैं, जिनमे से एक का अर्थ है—सयोजित करना, जोडना[1] और दूसरी का अर्थ है—मन की स्थिरता, समाधि[2]। प्रश्न यह है कि भारतीय योग दर्शन मे इन दोनो अर्थों मे से किसे अपनाया गया है ? उत्तर मे निवेदन है कि कितने ही विज्ञो ने 'योग' का जोडने के अर्थ मे प्रयोग किया है तो कितने ही विज्ञो ने समाधि के अर्थ मे। आचार्य पत-जलि ने 'चित्तवृत्ति के निरोध को योग' कहा है।[3] आचार्य हरिभद्र ने जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ सयोग होता है, उसे

---

1 युज्यति योगे— गण ७, हेमचन्द्र धातुपाठ।

2 युजित्र् समाधौ—गण ४, हेमचन्द्र धातुपाठ।

3 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः— पातजल योगसूत्र पा० १ सं० २।

योग कहा है।[1] उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की वही परिभाषा की है।[2] बौद्ध चिन्तको ने योग का अर्थ समाधि किया है।[3]

योग के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। साधना मे चित्त का एकाग्र होना या स्थिरचित्त होना यह योग का बाह्य रूप है। अहभाव, ममत्वभाव आदि मनोविकारो का न होना—योग का आभ्यन्तर रूप है। कोई प्रयत्न से चित्त को एकाग्र भी कर ले पर अहभाव और ममभाव प्रभृति मनोविकारो का परित्याग नही करता है तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। यह केवल व्यावहारिक योग साधना है, किन्तु पारमार्थिक या भावयोग साधना नही है। अहकार और ममकार से रहित समत्वभाव की साधना को ही गीताकार ने सच्चा योग कहा है।[4]

वैदिक परम्परा का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमे आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य रूप से हुआ है। ऋग्वेद मे योग शब्द का व्यवहार अनेक स्थलो पर हुआ है।[5] किन्तु वहाँ पर योग का अर्थ ध्यान और समाधि नही है, पर योग का अर्थ जोडना, मिलाना और सयोग करना है। उपनिषदो मे भी जो उपनिषद् बहुत ही प्राचीन हैं उनमे भी आध्यात्मिक अर्थ मे योग शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरकालीन कठोपनिषद्[6], श्वेताश्वतर उपनिषद्[7] आदि मे आध्यात्मिक अर्थ मे योग शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता मे कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने योग का खासा अच्छा निरूपण किया है।[8]

योगवासिष्ठ ने भी योग पर विस्तार से चर्चा की है।[9] ब्रह्मसूत्र मे भी योग पर खण्डन और मण्डन की दृष्टि से चिन्तन किया गया है।[10] किन्तु महर्षि पतजलि

---

1 (क) मोक्खेव जोयणाओ जोगो। —योगविंशिका, गा० १।
(ख) आध्यात्म भावनाऽऽध्यान समता वृत्तिसक्षय।
मोक्षेण योजनाद्योग एवं श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ —योगबिन्दु ३१।

2 मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते। —द्वात्रिंशिका

3 सयुक्त निकाय ५–१० विभग ३१७–१८।

4 योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्धायसिद्धयो समोभूत्वा समत्व योग उच्चते॥ —गीता २/४८

5 ऋग्वेद—१-५-३ . १-१८-७ : १-३४-८ : २-८-१ ६-५८-३ १०-१६६-५।

6 कठोपनिषद—२-६-११ १-२-१२।

7 श्वेताश्वतर उपनिषद् ६ और १३।

8 देखिये—गीता ६ और १३वाँ अध्याय।

9 देखिये—योगवासिष्ठ, छठा प्रकरण।

10 ब्रह्मसूत्र भाष्य, २-१-३।

का निर्माण किया। इन ग्रन्थों मे जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का विश्लेषण करके ही सन्तुष्ट नही हुए, अपितु पातंजल योगसूत्र मे वर्णित योग साधना और उनकी विशेष परिभाषाओ के साथ जैन योग साधना की तुलना की है और उसमे रहे हुए साम्य को वताने का प्रयास किया है।[1]

आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थो की निम्न विशेषताएँ हैं

(१) कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन योग का अनधिकारी है।

(२) योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले की जो तैयारी अपेक्षित है, उस पर चिन्तन किया है ?

(३) योग्यता के आधार पर साधको का विभिन्न दृष्टि से विभाग किया है और उनके स्वरूप और अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया गया है।

(४) योग साधना के भेद-प्रभेदो और साधन का वर्णन है।

योगबिन्दु मे योग के अधिकारी के अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति ये चार विभाग किये और योग की भूमिका पर विचार करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसक्षय ये पाँच प्रकार वताये। योगदृष्टि समुच्चय मे ओघ दृष्टि और योग दृष्टि पर चिन्तन किया है। इस ग्रन्थ मे योग के अधिकारियो को तीन भागो मे विभक्त किया है। प्रथम भेद मे प्रारम्भिक अवस्था से विकास की अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओ के कर्म-मल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा—ये आठ विभाग किये हैं। ये आठ विभाग पातजल योग सूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि अष्ट पृथक् जन चित्त दोषपरिहर और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणो को प्रकट करने के आधार पर किये गये हैं। योग शतक मे योग के निश्चय और व्यवहार—ये दो भेद किये गये है। योगविंशिका मे धर्म साधना के लिए की जाने वाली क्रियाओ को योग कहा है और योग की स्थान, ऊर्जा, अर्थ, आलम्बन और अनालम्वन ये पाँच भूमिकाएँ वतायी हैं।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जैन योग के इतिहास के जाज्वल्यमान नक्षत्र है—आचार्य हेमचन्द्र जिन्होने योगशास्त्र नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ मे पातंजल योग सूत्र के अष्टाग योग की तरह श्रमण तथा श्रावक

---

1 समाधिरेषु एवान्यैः सप्रज्ञोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्यर्थं ज्ञानतरस्तथा॥
असप्रज्ञात एषोऽपि समाधि गीयते परै।
निरुद्धशेष वृत्यादि तत्स्वरूपानुरोधक॥

—योगविन्दु ४१६-४२०।

श्वासोच्छ्वास निरोध की साधना प्रारम्भ की थी[1] किन्तु समाधि प्राप्त न होने से उसका परित्याग कर अष्टांगिक मार्ग को अपनाया।[2] अष्टांगिक मार्ग मे समाधि के ऊपर विशेष बल दिया गया है। समाधि या निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्त्व दिया है। तथागत बुद्ध ने कहा—"भिक्षो ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, सज्ञा अनित्य है, सस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह दु खप्रद है। जो दु खप्रद है वह अनात्मक है। जो अनात्मक है वह मेरा नही। वह मैं नही हूँ। इस तरह ससार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए।"

जैन आगम साहित्य मे योग शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु योग शब्द का अर्थ जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध परम्परा मे हुआ है उस अर्थ मे योग शब्द का प्रयोग नही हुआ है। वहाँ योग शब्द का प्रयोग मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। वैदिक और बौद्ध परम्परा मे जिस अर्थ को योग शब्द व्यक्त करता है उस अर्थ को जैन परम्परा मे तप और ध्यान व्यक्त करते हैं।

ध्यान का अर्थ है—मन, वचन और काया के योगो को आत्मचिन्तन मे केन्द्रित करना। ध्यान मे तन, मन और वचन को स्थिर करना होता है। केवल सास लेने की छूट रहती है, सास के अतिरिक्त सभी शारीरिक क्रियाओ को रोकना अनिवार्य है। सर्वप्रथम शरीर की विभिन्न क्रियाओ को रोका जाता है। वचन को नियन्त्रित किया जाता है और उसके पश्चात् मन को आत्म-स्वरूप मे एकाग्र किया जाता है। प्रस्तुत साधना को हम द्रव्य-साधना और भाव-साधना कह सकते हैं। तन और वचन की साधना द्रव्य-साधना और मन की साधना भाव-साधना है।

जैन परम्परा मे हठयोग को स्थान नही दिया गया है और न प्राणायाम को आवश्यक माना है। हठयोग के द्वारा जो नियन्त्रण किया जाता है उससे स्थायी लाभ नही होता, न आत्म-शुद्धि होती है और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। स्थानाग, समवायांग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य मे ध्यान के लक्षण और उनके प्रभेदो पर प्रकाश डाला है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति मे ध्यान पर विशद् विवेचन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे ध्यान पर चिन्तन किया है। किन्तु उनका चिन्तन आगम से पृथक नही है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने "ध्यानशतक" की रचना की। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैन ध्यान पद्धति के मर्मज्ञ ज्ञाता थे। उन्होने ध्यान की गहराई मे जाकर जो अनुभव का अमृत प्राप्त किया उसे इस ग्रन्थ मे उद्धृत किया है।

आचार्य हरिभद्र ने जैन-योग पद्धति मे नूतन परिवर्तन किया। उन्होने योग बिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक प्रभृति अनेक ग्रन्थो

---

1 अगुत्तरनिकाय ६३।

2 संयुक्तनिकाय ५-१०।

का निर्माण किया। इन ग्रन्थो मे जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का विश्लेषण करके ही सन्तुष्ट नही हुए, अपितु पातजल योगसूत्र मे वर्णित योग साधना और उनकी विशेष परिभापाओ के साथ जैन योग साधना की तुलना की है और उसमे रहे हुए साम्य को बताने का प्रयास किया है।[1]

आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थो की निम्न विशेपताएँ है

(१) कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन योग का अनधिकारी है।

(२) योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले की जो तैयारी अपेक्षित है, उस पर चिन्तन किया है ?

(३) योग्यता के आधार पर साधको का विभिन्न दृष्टि से विभाग किया है और उनके स्वरूप और अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया गया है।

(४) योग साधना के भेद-प्रभेदो और साधन का वर्णन है।

योगबिन्दु मे योग के अधिकारी के अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति ये चार विभाग किये और योग की भूमिका पर विचार करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसक्षय ये पाँच प्रकार बताये। योगदृष्टि समुच्चय मे ओघ दृष्टि और योग दृष्टि पर चिन्तन किया है। इस ग्रन्थ मे योग के अधिकारियो को तीन भागो मे विभक्त किया है। प्रथम भेद मे प्रारम्भिक अवस्था से विकास की अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओ के कर्म-मल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा—ये आठ विभाग किये हैं। ये आठ विभाग पातजल योग सूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि अष्ट पृथक् जन चित्त दोषपरिहर और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणो को प्रकट करने के आधार पर किये गये है। योग शतक मे योग के निश्चय और व्यवहार—ये दो भेद किये गये हैं। योगविंशिका मे धर्म साधना के लिए की जाने वाली क्रियाओ को योग कहा है और योग की स्थान, ऊर्जा, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन ये पाँच भूमिकाएँ बतायी हैं।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जैन योग के इतिहास के जाज्वल्यमान नक्षत्र है—आचार्य हेमचन्द्र जिन्होंने योगशास्त्र नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ मे पातंजल योग सूत्र के अष्टाग योग की तरह श्रमण तथा श्रावक

---

[1] समाधिरेषु एवान्यैः संप्रज्ञोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्यर्थं ज्ञानतरस्तथा ॥
असप्रज्ञात एषोऽपि समाधि गीयते परैः।
निरुद्धशेष वृत्यादि तत्स्वरूपानुरोधक ॥

—योगबिन्दु ४१९-४२०।

जीवन की आचार साधना को जैन आगम-साहित्य के प्रकाश मे व्यक्त किया है। इसमे आसन, प्राणायाम आदि का भी वर्णन है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानो का भी वर्णन किया है और मन की विक्षुप्त, यातायात, श्लिप्ट और सुलीन इन चार दशाओ का भी वर्णन किया है जो आचार्य की अपनी मौलिक देन है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र का नाम आता है। ज्ञानार्णव उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। सर्ग २९ से ४२ तक मे प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप और भेदो का वर्णन किया है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियो पर परकाय-प्रवेश आदि के फल पर चिन्तन करने के पश्चात् प्राणायाम को मोक्ष रूप साध्यसिद्धि के लिए अनावश्यक और अनर्थकारी वताया है।

उसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजयजी का नाम आता है, वे सत्योपासक थे। उन्होने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिपद्, योगावतार बत्तीसी, पातजल योग सूत्र वृत्ति, योगविंशिका टीका, योग दृष्टिनी सज्झाय आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। अध्यात्मसार ग्रन्थ के योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण मे गीता और पातजल योगसूत्र का उपयोग करके भी जैन-परम्परा मे विश्रुत ध्यान के विविध भेदो का समन्वयात्मक वर्णन किया है। अध्यात्मोपनिपद् मे शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिपद् के महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर जैनदर्शन के साथ तुलना की है। योगावतार वत्तीसी मे पातजल योग सूत्र मे जो योग-साधना का वर्णन है, उसका जैन दृष्टि से विवेचन किया है और हरिभद्र के योग-विंशिका और पोडशक पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर उसके रहस्यो को उद्घाटित किया है, जैनदर्शन की दृष्टि से पातजल योगसूत्र पर भी एक लघु-वृत्ति लिखी है। इस तरह यशोविजयजी के ग्रन्थो मे मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता व समन्वयक दृष्टि स्पप्ट रूप से परिलक्षित होती है।

साराश यह है कि जैन परम्परा का योग साहित्य अत्यधिक विस्तृत है। मूर्धन्य मनीपियो ने उस पर जम कर लिखा है। आज पुन योग पर आधुनिक दृष्टि से चिन्तन ही नही, किन्तु जीवन मे अपनाने की आवश्यकता है। यहाँ वहुत ही संक्षेप मे मैंने अपने विचार व्यक्त किये है। अवकाश के क्षणो मे इस पर विस्तार से लिखने का विचार है।

४
लेश्या : एक विश्लेषण

लेश्या जैन-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने मे लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विराट विश्व मे प्रत्येक ससारी आत्मा मे प्रतिपल प्रतिक्षण होने वाली प्रवृत्ति से सूक्ष्म कर्म पुद्‌गलो का आकर्षण होता है। जव वे पुद्‌गल स्निग्धता व रूक्षता के कारण आत्मा के साथ एकमेक हो जाते है तब उन्हे जैन-दर्शन मे 'कर्म' कहा जाता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्‌गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्‌गल और पुद्‌गल से जीव प्रभावित होते है। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्‌गलो के अनेक समूह हैं। उनमे से एक समूह का नाम लेश्या है। उत्तराध्ययन की वृहत् वृत्ति मे लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है।[1] मूलाराधना मे शिवार्य ने लिखा है "लेश्या छाया पुद्‌गलो से प्रभावित होने वाले जीव परिणाम हैं।[2] प्राचीन साहित्य मे शरीर के वर्ण, आणविक आभा और उसने प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों मे लेश्या पर विश्लेपण किया गया है। शरीर का वर्ण और आणकिक आभा को द्रव्यलेश्या कहा जाता है[3] और विचार को भावलेश्या।[4] द्रव्यलेश्या पुद्‌गल है। पुद्‌गल होने से वैज्ञानिक साधनो के द्वारा भी उन्हे जाना जा सकता है और प्राणी मे योगप्रवृत्ति

---

1 वृहद् वृत्ति, पत्र ६५०
लेशयति-श्लेपयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्त रूपा छाया।

2 मूलाराधना ७/१६०७
जह वाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स ॥

3 (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३९।

4 उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०।

से होने वाले भावो को भी समझ सकते हैं। द्रव्यलेश्या के पुद्गलो पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है। वे पुद्गल कर्म, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-मन, द्रव्य-भाषा के पुद्गलो से स्थूल है। किन्तु औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, शब्द, रूप, रस, गन्ध, आदि से सूक्ष्म है। ये पुद्गल आत्मा के प्रयोग मे आने वाले पुद्गल हैं अत इन्हे प्रायोगिक पुद्गल कहते हैं। यह सत्य है कि ये पुद्गल आत्मा से नही बँधते हैं, किन्तु इनके अभाव मे कर्म-बन्धन की प्रक्रिया भी नही होती।

आत्मा जिसके सहयोग से कर्म मे लिप्त होती है, वह लेश्या है। लेश्या का व्यापक दृष्टि से अर्थ करना चाहे तो इस प्रकार कर सकते हैं कि पुद्गल द्रव्य के सयोग से होने वाले जीव के परिणाम और जीव की विचार-शक्ति को प्रभावित करने वाले पुद्गल द्रव्य और सस्थान के हेतुभूत वर्ण और कान्ति। भगवती सूत्र मे जीव और अजीव दोनो की आत्म-परिणति के लिए लेश्या शब्द व्यवहृत हुआ है। जैसे चूना और गोबर से दीवार का लेपन किया जाता है वैसे ही आत्मा पुण्य-पाप या शुभ और अशुभ कर्मों से लीपी जाती है अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा मे लिप्त हो जाते हैं वह लेश्या है।[1] दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दो मे, 'आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।'[2] मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है क्या वे ही लेश्या हैं ? पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे कषायो के उदय से अनुरजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[3] तत्त्वार्थराजवार्तिक मे अकलक ने भी उसी का अनुसरण किया है।[4]

सार यह है कि केवल कषाय और योग लेश्या नही है, किन्तु कषाय और योग दोनो ही उसके कारण हैं। इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न तो योग मे किया जा सकता है और न कषाय मे। क्योकि इन दोनो के सयोग से एक तीसरी अवस्था समुत्पन्न होती है जैसे शरबत। कितने ही आचार्य मानते हैं कि लेश्या मे कषाय की प्रधानता नही अपितु योग की प्रधानता होती है क्योकि केवली मे कषाय का अभाव होता है, किन्तु योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमे शुक्ल लेश्या है।

षट्खण्डागम की धवला टीका मे लेश्या के सम्बन्ध मे निर्देश, वर्ण, परि-णाम, सक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व प्रभृति अधिकारो के द्वारा चिन्तन किया है।[5] आगम साहित्य मे अट्ठाइस लब्धियो का वर्णन है। उनमे एक तेजस्-लब्धि है। तेजो-लेश्या

---

1 गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ४८९, प० स० (प्रा०) ११४२-३।
2 धवला ७, २, १, सू० ३, पृ० ७।
3 सर्वार्थसिद्धि २/६, तत्त्वार्थराजवार्तिक २/६/८।
4 तत्त्वार्थराजवार्तिक २, ६, ८, पृ० १०९।
5 धवला १, १, १, ४, पृ० १४९।

अजीव है। तेजो-लेश्या के पुद्गलो मे जिस प्रकार लाल प्रभा और कान्ति होती है वैसी ही कान्ति तेजस्-लब्धि के प्रयोग करने वाले पुद्गलो मे भी होती है। इसी दृष्टि से तेजस्-लब्धि के साथ लेश्या शब्द भी प्रयुक्त हुआ हो।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! बाण के जीवो को मार्ग मे जाते समय कितनी क्रियाएँ लगती है? उसके हर एक अवयव की कितनी क्रियाएँ होती है? उत्तर मे भगवान ने कहा—गौतम, चार-पाँच क्रियाएँ होती हैं। क्योकि मार्ग मे जाते समय मार्गवर्ती जीवो को वह सन्त्रस्त करता है। बाण के प्रहार से वे जीव अत्यन्त सिकुड जाते है। प्रस्तुत सन्तापकारक स्थिति मे जीव को चार क्रियाएँ लगती हैं, यदि प्राणातिपात हो जाय तो पाँच क्रियाएँ लगती हैं।[1] यही स्थिति तेजो-लेश्या की भी है। उसमे भी चार-पाँच क्रियाएँ लगती हैं। अष्टस्पर्शी पुद्गल-द्रव्य मार्गवर्ती जीवो को उद्वेग न करे, यह स्वाभाविक है। भगवती मे स्कन्दक मुनि का '**अवहिर्लेश्य**' यह विशेपण है जिसका अर्थ है उनकी लेश्या यानि मनोवृत्ति सयम से बाहर नही है।[2] आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे श्रद्धा का उत्कर्ष प्रतिपादित करते हुए मनोयोग के अर्थ मे लेश्या का प्रयोग हुआ है। शिष्य गुरु की दृष्टि का अनुगमन करे। उनकी लेश्या मे विचरे अर्थात् उनके विचारो का अनुगमन करे।[3] प्रज्ञापना, जीवाभिगम, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि आगम साहित्य मे लेश्या शब्द का प्रयोग वर्ण, प्रभा और रग के अर्थ मे भी हुआ है। प्रज्ञापना मे देवो के दिव्य प्रभाव का वर्णन करते हुए द्युति, प्रभा, ज्योति, छाया, अर्चि और लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] इसी प्रकार नारकीय जीवो के अशुभ कर्मविपाको के सम्बन्ध मे गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—क्या सभी नारकीय जीव एक सदृश लेश्या और एक सदृश वर्ण वाले होते हैं या असमान? समाधान करते हुए भ० महावीर ने कहा—सभी जीव समान लेश्या और समान वर्ण वाले नही होते। जो जीव पहले नरक मे उत्पन्न हुए हैं वे पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीवो की अपेक्षा विशुद्ध वर्ण वाले और लेश्या वाले होते हैं। इसका कारण नारकीय जीवो के अप्रशस्त वर्ण नामकर्म की प्रकृति, तीव्र अनुभाग वाली होती है जिसका विपाक भव-सापेक्ष्य है। जो जीव पहले उत्पन्न हुए हैं उन्होने बहुत सारे विपाक को पा लिया है, स्वल्प अवशेष है। जो बाद मे उत्पन्न हुए है उन्हे अधिक भोगना है। एतदर्थ पूर्वोत्पन्न विशुद्ध हैं और पश्चा-

---

1 ततेण से उसु उड्ढ वेहास उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइ अभिहणई वत्तेति लेस्सेत्ति। —भग० २/५, उ० ६.

2 अविहिल्लेसे—भगवती २-२, उ०-१।

3 आचाराग, अ० ५।

4 प्रज्ञापना, पद २।

दुत्पन्न अविशुद्ध है। इसी तरह जिन्होने अप्रशस्त लेश्या-द्रव्यो को अधिक मात्रा मे भोगा है वे विशुद्ध हैं और जिनके अधिक शेष है वे अविशुद्ध लेश्या वाले है।[1]

हम पूर्व लिख चुके हैं कि लेश्या के दो भेद है—द्रव्य और भाव। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ प्राप्त है—कर्मवर्गणानिष्पन्न, कर्मनिस्यन्द और योगपरिणाम।

उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार शातिसूरि का अभिमत है कि द्रव्य-लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। यह द्रव्य-लेश्या कर्मरूप है तथापि वह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे कि कार्मण शरीर। यदि लेश्या को कर्मवर्गणा निष्पन्न न माना जाय तो वह कर्म-स्थिति-विधायक नही बन सकती। कर्म-लेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलो से है। उसकी एक प्रकृति शरीर नामकर्म है। शरीर नामकर्म के पुद्गलो का एक समूह कर्म-लेश्या है।[2]

दूसरी मान्यता की दृष्टि से लेश्या-द्रव्य कर्मनिस्यन्द रूप है। यहाँ पर निस्यन्द रूप का तात्पर्य वहते हुए कर्म-प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान मे कर्म की सत्ता है, प्रवाह है। किन्तु वहाँ पर लेश्या नही है। वहाँ पर नये कर्मों का आगमन नही होता।

कषाय और योग ये कर्म बन्धन के दो मुख्य कारण हैं। कषाय होने पर लेश्या मे चारो प्रकार के बन्ध होते हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का सम्बन्ध योग से है और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से है। जब कषायजन्य बन्ध होता है तब लेश्याएँ कर्मस्थिति वाली होती हैं। केवल योग मे स्थिति और अनुभाग नही होता, जैसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तो के ईर्यापथिक क्रिया होती है, किन्तु स्थिति, काल और अनुभाग नही होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुत ग्रहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नहीं है।

तृतीय अभिमतानुसार लेश्या-द्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य है। विना योग के लेश्या नही होती। लेश्या और योग मे परस्पर अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध है। लेश्या के योग निमित्त मे दो विकल्प समुत्पन्न होते हैं। क्या लेश्या को योगान्तर्गत द्रव्यरूप मानना चाहिए? अथवा योगनिमित्त कर्मद्रव्य रूप? यदि वह लेश्या द्रव्यकर्म रूप है तो घातीकर्म द्रव्यरूप है या अघाती कर्म द्रव्यरूप है? लेश्या घातीकर्म द्रव्यरूप नही है। क्योकि घातीकर्म नष्ट हो जाने पर भी लेश्या होती है। यदि लेश्या को अघातीकर्म द्रव्यस्वरूप माने तो अघाती कर्मोंवालो मे भी सर्वज्ञ लेश्या

---

1 प्रज्ञा० पद, १७ टीका० पृ० ३३३।

2 कर्म द्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीर नामकर्म द्रव्याण्येव कर्म द्रव्य-लेश्या। कार्मण शरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्म वर्गणा निष्पन्नानि कर्म लेश्या द्रव्यानीति तत्त्व पुन।
—उत्तरा० अ० ३४ टी० पृ०, ६५०

नही है। चौदहवें गुणस्थान मे अघातीकर्म है, किन्तु वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्य स्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायो की वृद्धि होती है, क्योकि योगद्रव्यो मे कषाय बढाने का सामर्थ्य है। प्रज्ञापना की टीका मे आचार्य ने लिखा है—कर्मों के द्रव्य, विपाक होने वाले और उदय मे आने वाले दोनो प्रयत्नो से प्रभावित होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्तृत्व दिखाते हैं। जिसे पित्त-विकार हो उसका क्रोध बढ जाता है। ब्राह्मी का सेवन ज्ञानावरण को कम करने मे सहायक है। मदिरापान से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही के सेवन से निद्रा की अभिवृद्धि होती है। निद्रा जो दर्शनावरण का औदयिक फल है। अत स्पष्ट है कषायोदय मे अनुरजित योग प्रवृत्ति ही (लेश्या) स्थितिपाक मे सहायक होती है।[1]

गोम्मटसार मे आचार्य नेमिचन्द्र ने योग-परिणामस्वरूप लेश्या का वर्णन किया है।[2] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे[3] और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड मे[4] कषायोदय अनुरजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहा है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषा से विरुद्ध नही है। अब हम सक्षेप मे तीनो परिभाषाओ के के सम्बन्ध मे चिन्तन करेंगे।

प्रथम कर्मवर्गणानिष्पन्न लेश्या को मानने वाली एक परम्परा थी, किन्तु उस पर विस्तार के साथ लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नही है।

द्वितीय कर्मनिस्यन्द लेश्या मानने वाले आचार्यों ने योग-परिणाम लेश्या को स्वीकार नही किया है। उनका मन्तव्य है कि लेश्या योग-परिणाम नही हो सकती। क्योकि कर्मबन्ध के दो कारणो मे से योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध हो सकता है, स्थिति और अनुभाग का बन्ध नही हो सकता। जबकि आगम साहित्य मे स्थिति का लेश्याकाल प्रतिपादित किया गया है, वह इस परिभापा को मानने से घट

---

1 प्रज्ञापना० १७ टीका, पृ० ३३०।

2 अयदोत्ति छ लेस्साओ, सहतियलेस्सा दु देसविरद तिये।
तत्तो सुक्कालेस्सा, अजोगिठाण अलेस्सं तु ॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ५३१

3 भावलेश्या कषायोदयरजितायोग प्रवृत्तिरिति कृत्या औदयिकीत्युच्यते।
—सर्वार्थसिद्धि अ० २, सू० २

4 जोग पउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणु रजिया होइ।
तत्ते दोण्ण कज्ज बन्ध चउत्थ समुद्दिट्ठ ॥
—जीवकाण्ड, ४८६

नही सकेगा। अत कर्मनिस्यन्द लेश्या मानना ही तर्कसगत हैं ।[1] जहाँ पर लेश्या के स्थितिकाल का वन्धन होता है वहां पर चारो का वन्ध होगा। जहाँ पर कषाय का अभाव है वहाँ पर योग के द्वारा दो का ही वन्धन होगा। उपशान्तमोह और क्षीण-मोह आत्माओ मे कर्म-प्रवाह प्रारम्भ है, वहाँ पर लेश्या भी है, तथापि स्थिति का वन्ध नही होता है। प्रश्न है—समुच्छिन्न शुक्लध्यान को ध्याते हुए चौदहवें गुणस्थान मे चार कर्म विद्यमान है तथापि वहाँ पर लेश्या नही है। उत्तर है—जो आत्माएँ कर्म युक्त हैं उन सभी के कर्म-प्रवाह चालू ही रहे, ऐसा नियम नही है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो योग परिणाम लेश्या का अर्थ होगा योग ही लेश्या है, किन्तु इस प्रकार नही है। उदाहरण के रूप मे सूर्य के विना किरणें नही होती; किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि किरणें ही सूर्य हैं। तात्पर्य यह है वहता हुआ जो कर्म-प्रवाह है वही लेश्या का उपादान कारण है।[2]

तृतीय योग-परिणाम लेश्या कर्मनिस्यन्द स्वभावयुक्त नही है। यदि इस प्रकार माना जायगा तो ईर्यापथिक मार्ग स्थिति-वन्ध विना कारण का होगा। आगम साहित्य मे दो समय स्थिति वाले अन्तर्मुहूर्त काल को भी निर्धारित काल माना है। अत स्थितिवन्ध का कारण कपाय नही अपितु लेश्या है। जहाँ पर कषाय रहता है वहाँ पर तीव्र वन्धन होता है। स्थितिवन्ध की परिपक्वता कपाय से होती है। अत कर्म-प्रवाह को लेश्या मानना तर्कसगत नही है।

कर्मों के कर्म-सार और कर्म-असार ये दो रूप है। प्रश्न है- कर्मों के असार-भाव को निस्यन्द मानते हैं तो असार कर्म प्रकृति से लेश्या के उत्कृष्ट अनुभागवन्ध का कारण किम प्रकार होगा? और यदि कर्मों के सार-भाव को निस्यन्द कहेगे तो आठ कर्मो मे से किम कर्म के सार-भाव को कहे? यदि आठो ही कर्मों का माना जाय तो जहाँ पर कर्मो के विपाक का वर्णन है वहाँ पर किसी भी कर्म का लेश्या के रूप मे विपाक का प्रतिपादन नही हुआ है। एतदर्थ योग-परिणाम को ही लेश्या मानना चाहिए।[3] उपाध्याय विनयविजयजी ने लोक-प्रकाश मे इस तथ्य को स्वीकार किया है।[4]

---

1 (क) उत्तराध्ययन अ० ३४—टी० पृ० ६५० ।
(ख) प्रज्ञापना १७ पृ०, ३३१ ।

2 उत्तराध्ययन, अ० ३४, पृ० ६५० ।

3 न लेश्या स्थिति हेतव किन्तु कपाया. लेश्यास्तु कपायोदयान्तर्गता अनुभाग हेतव अतएव च स्थितिपाक विशेपस्तस्य भवति लेश्या विशेपेण ।

—उत्तरा० ३४, पृ० ६५०

(ग) प्रज्ञा० १७, पृ० ३३१ ।

4 लेसाणां निक्खेवो च उक्कओ दुविहो उ होइ नायव्वो—५३४ ।

भावलेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है, जो सक्लेश और योग के अनुगत है। सक्लेश के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि विविध भेद होने से भाव-लेश्या के अनेक प्रकार हैं, तथापि सक्षेप मे उसे छः भागो मे विभक्त किया है। अर्थात्, मन के परिणाम शुद्ध और अशुद्ध दोनो ही प्रकार के होते हैं और उनके निमित्त भी शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के होते हैं। निमित्त अपना प्रभाव दिखाता है जिससे मन के परिणाम उससे प्रभावित होते है। दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध है। निमित्त को द्रव्यलेश्या और मन के परिणाम को भावलेश्या कहा है। जो पुद्‌गल निमित्त बनते हैं, उनमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सभी होते है तथापि उनका नामकरण वर्ण के आधार पर किया गया है। सम्भव है गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा वर्ण मानव को अधिक प्रभावित करता हो। कृष्ण, नील और कपोत ये तीन रग अशुभ हैं और इन रगो से प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी अशुभ मानी गयी हैं और उन्हें अधर्म-लेश्याएँ कहा गया है।[1] तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन वर्ण शुभ है और उनसे प्रभावित होने वाली लेश्याएँ भी शुभ है। इसलिए तीन लेश्याओ को धर्म-लेश्या कहा है।[2]

अशुद्धि और शुद्धि की दृष्टि से छ लेश्याओ का वर्गीकरण इस प्रकार किया किया है—

(१) कृष्णलेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
(२) नीललेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
(३) कापोतलेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
(४) तेजस्‌लेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
(५) पद्‌मलेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
(६) शुक्ललेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

प्रस्तुत अशुद्धि और शुद्धि का आधार केवल निमित्त ही नही अपितु निमित्त और उपादान दोनो हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीव्रता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील, कापोत रंगवाले पुद्‌गल हैं और शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत और श्वेत रंग वाले पुद्‌गल है। उत्तराध्ययन मे लेश्या का नाम, वर्ण, रस, गध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह प्रकार से लेश्या पर चिन्तन किया है।[3]

आचार्य अकलक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[4] मे लेश्या पर (१) निर्देश, (२) वर्ण, (३) परिणाम, (४) सक्रम, (५) कर्म, (६) लक्षण, (७) गति, (८) स्वामित्व,

---

1 उत्तराध्ययन, ३४।५६।
2 उत्तराध्ययन ३४।५७।
3 उत्तराध्ययन ३४।३।
4 तत्त्वार्थराजवार्तिक १६, पृ० २३८।

(९) साधना, (१०) सख्या, (११) क्षेत्र, (१२) स्पर्शन, (१३) काल, (१४) अन्तर, (१५) भाव, (१६) अल्प-बहुत्व इन सोलह प्रकारो से चिन्तन किया है।

जितने भी स्थूल परमाणु स्कन्ध हैं वे सभी प्रकार के रंगो और उपरगो वाले होते है। मानव का शरीर स्थूल स्कन्ध वाला है। अत उसमे सभी रग हैं। होने से वह बाह्य रगो से प्रभावित होता है और उसका प्रभाव मानव के मानस पर भी पडता है। एतदर्थ ही भगवान महावीर ने सभी प्राणियो के प्रभाव व शक्ति की दृष्टि से शरीर और विचारो को छ भागो मे विभक्त किया है और वही लेश्या है।

डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है—जैनो के लेश्याओ के सिद्धान्त मे तथा गोशालक के मानवो को छ विभागो मे विभक्त करने वाले सिद्धान्त मे समानता है। इस बात को सर्वप्रथम प्रोफेसर ल्यूमेन ने पकडा पर इस सम्बन्ध मे मेरा विश्वास है जैनो ने यह सिद्धान्त आजीविको से लिया और उसे परिवर्तित कर अपने सिद्धान्तो के साथ समन्वित कर दिया।[1]

प्रो० ल्यूमेन तथा डॉ० हर्मन जेकोबी ने मानवो का छ प्रकार का विभाजन गोशालक द्वारा माना है, पर अगुत्तरनिकाय से स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत विभाजन गोशालक द्वारा नही अपितु पूरणकश्यप के द्वारा किया गया था।[2] दीघनिकाय मे छह तीर्थंकरो का उल्लेख है, उनमे पूरणकश्यप भी एक हैं[3] जिन्होंने रगो के आधार पर छ अभिजातियाँ निश्चित की थी। वे इस प्रकार हैं—

(१) कृष्णाभिजाति—क्रूर कर्म करने वाले सौकरिक, शाकुनिक प्रभृति जीवो का समूह।

(२) नीलाभिजाति—बौद्ध श्रमण और कुछ अन्य कर्मवादी, क्रियावादी भिक्षुओ का समूह।

(३) लोहिताभिजाति—एक शाटक निर्ग्रन्थो का समूह।

(४) हरिद्राभिजाति—श्वेत वस्त्रधारी या निर्वस्त्र।

(५) शुक्लाभिजाति—आजीवक श्रवण-श्रमणियो का समूह।

(६) परम शुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य, नन्द, वत्स, कृष, सास्कृत्य, मस्करी गोशालक प्रभृति का समूह।[4]

आनन्द की जिज्ञासा पर तथागत बुद्ध ने कहा—ये छ अभिजातियाँ अव्यक्त व्यक्ति द्वारा किया हुआ प्रतिपादन है। प्रस्तुत वर्गीकरण का मूल आधार अचेलता

---

1 Sacred Books of the East, Vol XLV, Introduction, p. XXX.
2 अगुत्तरनिकाय ६-६-३ भाग ३, पृ० ९३।
3 दीघनिकाय १।२, पृ० १९, २०।
4 अगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग ३, पृ० ३५, ९३-९४।

है। वस्त्र कम करना और वस्त्रों का पूर्ण त्याग कर देना अभिजातियों की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का कारण है।

अपने प्रधान शिठय आनन्द से तथागत बुद्ध ने कहा—मैं भी छ अभिजातियों का प्रतिपादन करता हूँ।

(१) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल मे पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।

(२) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्लधर्म करता है।

(३) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और अकृष्ण—अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

(४) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्च कुल मे समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्लधर्म (पुण्य) करता है।

(५) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्ण धर्म करता है।

(६) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और अशुक्ल—अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।[1]

प्रस्तुत वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया गया है। इस वर्गीकरण मे चाण्डाल, निषाद आदि जातियो को शुक्ल कहा है। कायिक, वाचिक और मानसिक जो दुश्चरण हैं वे कृष्णधर्म हैं और उनका जो श्रेष्ठ आचरण है वह शुक्लधर्म है। पर निर्वाण न कृष्ण है, न शुक्ल है। इस वर्गीकरण का उद्देश्य है नीच जाति मे समुत्पन्न व्यक्ति भी शुक्लधर्म कर सकता है और उच्चकुल मे उत्पन्न व्यक्ति भी कृष्णधर्म करता है। धर्म और निर्वाण का सम्बन्ध जाति से नहीं है।

प्रस्तुत विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि पूरणकश्यप और तथागत बुद्ध ने छ: अभिजातियो का जो वर्गीकरण किया है उसका सम्बन्ध लेश्या के साथ नही है। लेश्याओ का जो सम्बन्ध है वह एक-एक व्यक्ति से है। विचारो को प्रभावित करने वाली लेश्याएँ एक व्यक्ति के जीवन मे समय के अनुसार छ भी हो सकती है।

छ अभिजातियो की अपेक्षा लेश्या का जो वर्गीकरण है वह वर्गीकरण महाभारत से अधिक मिलता-जुलता है। एक वार सनत्कुमार ने दानवो के अधिपति वृत्रासुर से कहा—प्राणियो के छ प्रकार के वर्ण हैं—(१) कृष्ण, (२) धूम्र, (३) नील, (४) रक्त, (५) हारिद्र और (६) शुक्ल। कृष्ण, धूम्र और नील वर्ग का सुख

---

1 (क) अंगुत्तरनिकाय ६।६।३, भाग ३, पृ० ९३-९४।
(ख) दीघनिकाय, ३।१०, पृ० २२५।

मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सहन करने योग्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्ल वर्ण उससे भी अधिक सुखकर होता है।[1]

महाभारत मे कहा है—कृष्ण वर्ण वाले की गति नीच होती है। जिन निकृष्ट कर्मो से जीव नरक मे जाता है वह उन कर्मो मे सतत आसक्त रहता है। जो जीव नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है जो रंग पशु-पक्षी जाति का है। मानव जाति का रंग नीला है। देवो का रग रक्त है—वे दूसरो पर अनुग्रह करते हैं। जो विशिष्ट देव होते है उनका रग हारिद्र है। जो महान साधक हैं उनका वर्ण शुक्ल है।[2] अन्यत्र महाभारत मे यह भी लिखा है कि दुष्कर्म करने वाला मानव वर्ण से परिभ्रष्ट हो जाता है और पुण्य कर्म करने वाला मानव वर्ण के उत्कर्ष को प्राप्त करता है।[3]

तुलनात्मक दृष्टि से हम चिन्तन करें तो सहज ही परिज्ञात होता है कि जैन दृष्टि का लेश्या-निरूपण और महाभारत का वर्ण-विश्लेपण—ये दोनो बहुत कुछ समानता को लिये हुए हैं। तथापि यह नही कहा जा सकता कि जैनदर्शन ने यह वर्णन महाभारत से लिया है। क्योकि अन्य दर्शनो ने भी रग के प्रभाव की चर्चा की की है। पर जैनाचार्यो ने इस सम्बन्ध मे जितना गहरा चिन्तन किया है उतना अन्य दर्शनो ने नही किया। उन्होंने तो केवल इसका वर्णन प्रासगिक रूप से ही किया है। अत. डॉ० हर्मन जेकोवी का यह मानना कि लेश्या का वर्णन जैनियो ने अन्य परम्पराओ से लिया है, तर्कसगत नही है।

कुरुक्षेत्र के मैदान मे श्रीकृष्ण ने गति के कृष्ण और शुक्ल ये दो विभाग किये। कृष्ण गति वाला पुन-पुन जन्म-मरण ग्रहण करता है, शुक्ल गतिवाला जन्म और मरण से मुक्त हो जाता है।[4]

धम्मपद[5] मे धर्म के दो विभाग किये हैं—कृष्ण और शुक्ल। पण्डित मानव को कृष्णधर्म का परित्याग कर शुक्लधर्म का पालन करना चाहिए।

महर्षि पतजलि ने कर्म की दृष्टि से चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं—(१) कृष्ण (२) शुक्ल-कृष्ण (३) शुक्ल (४) अशुक्ल-अकृष्ण, जो क्रमश अशुद्धतर, अशुद्ध,

---

1 षड् जीववर्णा परमं प्रमाण, कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्त पुन सह्यतर सुखं तु, हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥
—महाभारत, शातिपर्व, २८०।३३

2 महाभारत, शातिपर्व, २८०।३४-४७।

3 महाभारत, शातिपर्व २६१।४-५।

4 शुक्ल कृष्णे गती ह्येते, जगत शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुन॥
—गीता ८।२६

5 धम्मपद, पण्डितवग्ग, श्लोक १६।

शुद्ध और शुद्धतर हैं। तीन कर्मजातियाँ सभी जीवो मे होती है, किन्तु चौथी अशुक्ल-अकृष्ण जाति योगी मे होती है।[1] प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि उनका कर्म कृष्ण होता है जिनका चित्त दोष-कुलषित या क्रूर है। पीडा और अनुग्रह दोनो विधाओ से मिश्रित कर्म शुक्ल-कृष्ण कहलाता है। यह बाह्य साधनो से साध्य होते हैं। तप, स्वाध्याय और ध्यान मे निरत व्यक्तियो के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं उनमे बाह्य साधनों की किसी भी प्रकार की अपेक्षा नही होती और न किसी को पीडा दी जाती है, एतदर्थ यह कर्म शुक्ल कहा जाता है। जो पुण्य के फल की भी आकाक्षा नही करते उन क्षीण-क्लेश चरमदेह योगियो के अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होता है।

प्रकृति का विश्लेषण करते हुए उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् मे लोहित्, शुक्ल और कृष्ण रंग का बताया गया है।[2] सांख्य कौमुदी मे कहा गया है जब रजोगुण के द्वारा मन मोह से रग जाता है तब वह लोहित है, सत्त्वगुण से मन का मैल मिट जाता है, अत वह शुक्ल है।[3] शिव स्वरोदय मे लिखा है—विभिन्न प्रकार के तत्त्वो के विभिन्न वर्ण होते हैं जिन वर्णों से प्राणी प्रभावित होता है।[4] वे मानते हैं कि मूल मे प्राणतत्त्व एक है। अणुओ की कमी-बेशी, कम्पन या वेग से उसके पाँच विभाग किये गये हैं जैसे देखिए—

नाम	वेग	रंग	आकार	रस या स्वाद
(१) पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
(२) जल	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्द्धचन्द्राकार	कसैला
(३) तेजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	चरपरा
(४) वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
(५) आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ (सर्ववर्णक मिश्रित रंग)	अनेक बिन्दु गोल या आकारशून्य	कडवा

जैनाचार्यों ने लेश्या पर गहरा चिन्तन किया है। उन्होने वर्ण के साथ आत्मा के भावो का भी समन्वय किया है। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है। अतः आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी लेश्या पर चिन्तन किया जा सकता है।

---

1 पातञ्जल योगसूत्र ४।७।

2 अजामेका लोहित शुक्लकृष्णां बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा.।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येना भुक्त भोगामजोऽन्य.॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद, ४।५

3 साख्य कौमुदी, पृ० २००।

4 आप श्वेता क्षिति पीता, रक्तवर्णो हुताशन।
मारुतो नीलजीमूत', आकाशः सर्ववर्णक॥
—शिवस्वरोदय, भाषा टीका, श्लो० १५६, पृ० ४२

लेश्या : मनोविज्ञान और पदार्थविज्ञान

मानव का शरीर, इन्द्रियाँ और मन ये सभी पुद्गल से निर्मित है। पुद्गल मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होने से वह रूपी है। जैन साहित्य मे वर्ण के पाँच प्रकार बताये हैं— काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से सफेद रग मौलिक नही है। वह सात रगो के मिलने पर बनता है। उन्होने रंगो के सात प्रकार बताये हैं। यह सत्य है कि रंगो का प्राणी के जीवन के साथ बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। वैज्ञानिको मे भी परीक्षण कर यह सिद्ध किया है कि रगों का प्रकृति पर, शरीर पर और मन पर प्रभाव पडता है। जैसे लाल, नारंगी, गुलाबी, बादामी रगो से मानव की प्रकृति मे ऊष्मा बढती है। पीले रंग से भी ऊष्मा बढती है, किन्तु पूर्वापेक्षया कम। नीले, आसमानी रग से प्रकृति मे शीतलता का सचार होता है। हरे रंग से न अधिक ऊष्मा बढती है और न अधिक शीतलता का ही सचार होता है, अपितु शीतोष्ण सम रहता है। सफेद रग से प्रकृति सदा सम रहती है।

रंगो का शरीर पर भी अद्भुत प्रभाव पडता है। लाल रग से स्नायु मण्डल मे स्फूर्ति का सचार होता है। नीले रग से स्नायविक दुर्बलता नष्ट होती है, धातुक्षय सम्बन्धी रोग मिट जाते हैं तथा हृदय और मस्तिष्क मे शक्ति की अभिवृद्धि होती है। पीले रग से मस्तिष्क की दुर्बलता नष्ट होकर उसमे शक्ति-सचार होता है, कब्ज, यकृत, प्लीहा के रोग मिट जाते हैं। हरे रंग से ज्ञान-तन्तु व स्नायु मण्डल सुदृढ़ होते हैं तथा धातु क्षय सम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं। गहरे नीले रग से आमाशय सम्बन्धी रोग मिटते हैं। सफेद रग से नीद गहरी आती है। नारगी रग से वायु सम्बन्धी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और दमा की व्याधि भी शान्ति हो जाती है। बैंगनी रंग से शरीर का तापमान कम हो जाता है।

प्रकृति और शरीर पर ही नही, किन्तु मन पर भी रगो का प्रभाव पडता है। जैसे, काले रंग से मन मे असयम, हिंसा एव क्रूरता के विचार लहराने लगेंगे। नीले रग से मन मे ईर्ष्या, असहिष्णुता, रस-लोलुपता एवं विषयो के प्रति आसक्ति व आकर्षण उत्पन्न होता है। कापोत रग से मन मे वक्रता, कुटिलता अगडाइयाँ लेने लगती हैं। अरुण रग से मन मे ऋजुता, विनम्रता एव धर्म-प्रेम की पवित्र भावनाएँ पैदा होती है। पीले रग से मन मे क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषाय नष्ट होते हैं और साधक के मन मे इन्द्रिय विजय के भाव तरगित होते हैं। सफेद रग से मन मे अपूर्व शान्ति तथा जितेन्द्रियता के निर्मल भावो का सचार होता है।

अन्य दृष्टि से भी रगो का मानसिक विचारो पर जो प्रभाव होता है उसका वर्गीकरण चिन्तको ने अन्य रूप से प्रस्तुत किया है, यद्यपि वह द्वितीय वर्गीकरण से कुछ पृथकता लिये हुए है। जैसे, आसमानी रग से भक्ति सम्बन्धी भावनाएँ जाग्रत होती हैं। लाल रग से काम वासनाएँ उद्‌बुद्ध होती हैं। पीले रग से तार्किक शक्ति की

अभिवृद्धि होती हैं। गुलाबी रंग से प्रेम विषयक भावनाएँ जाग्रत होती हैं। हरे रंग से मन मे स्वार्थ की भावनाएँ पनपती हैं। लाल व काले रंग का मिश्रण होने पर मन मे क्रोध भडकता है।

जब हम इन दोनो प्रकार के रगो के वर्गीकरण पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक रग प्रशस्त और अशप्रस्त दो प्रकार का है। कही पर लाल, पीले और सफेद रंग अच्छे विचारो को उत्पन्न नही करते इसलिए वे अप्रशस्त व अशुभ हैं और कही पर वे अच्छे विचारो को उत्पन्न करते हैं, अत वे प्रशस्त व शुभ हैं। क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रदीप्त हो जाता है, उसका वर्ण लाल माना गया है। मोह से जल-तत्त्व की अभिवृद्धि हो जाती है, उसका वर्ण सफेद या बैंगनी माना गया है। भय से पृथ्वी-तत्त्व प्रधान हो जाता है, इसका वर्ण पीला है। लेश्याओ के वर्णन मे भी क्रोध, मोह, और भय आदि अन्तर मे रहे हुए हैं और उनका मानस पर असर होता है। कही पर श्याम रंग को भी प्रशस्त माना है, जैसे—नमस्कार महा-मन्त्र के पदो के साथ जो रंगो की कल्पना की गयी है उसमे 'नमो लोए सव्वसाहूण' का वर्ण कृष्ण बताया है। साधु के साथ जो कृष्ण वर्ण की योजना की गयी है वह कृष्णलेश्या जो निकृष्टतम चित्तवृत्ति को समुत्पन्न करने का हेतु अप्रशस्त कृष्ण वर्ण है उससे पृथक है, कृष्णलेश्या का जो कृष्णवर्ण है उससे साधु का जो कृष्ण वर्ण है वह भिन्न है और प्रशस्त है।

पाश्चात्य देशो मे वैज्ञानिक रगो के सम्बन्ध मे गम्भीर अध्ययन कर रहे हैं। कलर थिरेपी रग के आधार पर समुत्पन्न हुई है। रग से मानव के चित्त व शरीर की भी चिकित्सा प्रारम्भ हुई है जिसके परिणाम भी बहुत ही श्रेष्ठ आये हैं।[1]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से विद्युत चुम्बकीय तरगें बहुत ही सूक्ष्म है। वे विराट विश्व मे गति कर रही हैं। वैज्ञानिको ने विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का सामान्य रूप से विभाजन इस प्रकार से किया है

रेडियो तरगें	सूक्ष्म तरगें	अवरक्त	दृश्यमान	परा बैंगनी	एक्स-रे गामा किरणें

$१०^{६}$ $१०^{२}$ १ $१०^{-२}$ $१०^{-४}$ $१०^{-६}$ $१०^{-१०}$

तरग दैर्घ्य

प्रस्तुत चार्ट से यह स्पष्ट होता है कि विश्व मे जितनी भी विकिरणें हैं उन विकिरणो की तुलना मे जो दिखायी देती है उन विकिरणो का स्थान नही-जैसा है। पर उन विकिरणो का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो विकिरणे दृष्टिगोचर होती हैं।

1 देखिए —'अणु और आभा' ले० प्रो० जे० सी० ट्रस्ट।

त्रिपार्श्व के माध्यम से उनके सात वर्ण देख सकते है। जैसे वैंगनी, नीला, आकाश-सदृश नीला, हरा, पीला, नारगी और लाल। इन विकिरणो मे एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि क्रमश इन रगो मे आवृत्ति (Frequency) कम होती है और तरग-दैर्घ्य (wave-length) मे अभिवृद्धि होती है। वैंगनी रंग के पीछे की विकिरणो को अपरा वैंगनी (ultra-violet) और लाल रंग के आगे की विकिरणें अवरक्त कही जाती हैं। प्रस्तुत वर्गीकरण मे वर्ण की मुख्यता है। किन्तु जितनी विकिरणे हैं उनका लक्षण, आवृत्ति और तरगदैर्घ्य है।

विज्ञान के आलोक मे जब हम लेश्या पर चिन्तन करते है तो सूर्य के प्रकाश की भाँति यह स्पप्ट होता है कि छ. लेश्याओ के वर्ण और दृप्टिगोचर होने वाले स्पेक्ट्रम (वर्ण-पट) के रगो की तुलना इस प्रकार की जा सकती है—

दिखायी दिया जाने वाला स्पेक्ट्रम	लेश्या
१. अपरा वैंगनी से वैंगनी तक	कृष्णलेश्या
२ नीला	नीललेश्या
३. आकाश सदृश नीला	कापोतलेश्या
४ पीला	तेजोलेश्या
५. लाल	पद्मलेश्या
६ अवरक्त तथा आगे की विकिरणे	शुक्ललेश्या

डॉ० महावीर राज गेलडा ने 'लेश्या . एक विवेचन' शीर्षक लेख[1] मे जो चार्ट दिया है उसमे उन्होने सप्त वर्ण के स्थान पर पाँच ही वर्ण लिये हैं हरा व नारगी ये दो वर्ण छोड दिये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र मे तेजोलेश्या का रंग हिंगुल की तरह रक्त लिखा है और पद्म लेश्या का रग हरिताल की तरह पीत लिखा है। किन्तु डॉ० गेलडा ने तेजोलेश्या को पीले वर्ण वाली और पद्म लेश्या को लाल वर्ण वाली माना है, वह आगम की दृष्टि से उचित नही है। लाल के बाद आगमकार ने पीत का उल्लेख क्यो किया है इस सम्बन्ध मे हम आगे की पक्तियो मे विचार करेंगे।

तीन जो प्रारम्भिक विकिरणें हैं, वे लघुतरग वाली और पुन-पुन आवृत्ति वाली होती हैं। इसी तरह कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ तीव्र कर्म बन्धन मे सहयोगी व प्राणी को भौतिक पदार्थों मे लिप्त रखती हैं। ये लेश्याएँ आत्मा के प्रतिकूल हैं, अत इन्हें आगम साहित्य मे अशुभ व अधर्म लेश्याएँ कहा गया है और इनसे तीव्र कर्म बन्धन होता है।

उसके पश्चात् की विकिरणो की तरगें अधिक लम्बी होती हैं और उनमे आवृत्ति कम होती है। इसी तरह तेजो, पद्म व शुक्ल लेश्याएँ तीव्र कर्म बन्धन नही करती। इनमे विचार, शुभ और शुभतर होते चले जाते हैं। इन तीन लेश्या वाले

---

1 देखिए—पूज्य प्रवर्तक श्री अबालाल जी म० अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २५२।

जीवो मे क्रमश अधिक निर्मलता आती है। इसलिए ये तीन लेश्याएँ शुभ है और इन्हे धर्म लेश्याएँ कहा है।

उपर्युक्त पक्तियो मे हमने जो विकिरणो के साथ तुलना की है वह स्थूल रूप से है। तथापि इतना स्पष्ट है कि लेश्या के लक्षणो मे वर्ण की प्रधानता है। विकिरणो मे आवृत्ति और तरग की लम्बाई होती है। विचारो मे जितने अधिक सकल्प-विकल्प के द्वारा आवर्त होगे वे उतने ही अधिक आत्मा के लिए अहितकर होगे। एतदर्थ ध्यान और उपयोग व साधना के द्वारा विचारो को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है।

हम पूर्व ही बता चुके हैं कि लेश्याओ का विभाजन रग के आधार पर किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे के आसपास एक प्रभामण्डल विनिर्मित होता है जिसे 'ओरा' कहते हैं। वैज्ञानिको ने इस प्रकार के कैमरे निर्माण किये हैं जिनमे प्रभामण्डल के चित्र भी लिये जा सकते हैं। प्रभामण्डल के चित्र से उस व्यक्ति के अन्तर्मानस मे चल रहे विचारो का सहज पता लग सकता है। यदि किसी व्यक्ति के आस-पास कृष्ण आभा है फिर भले ही वह व्यक्ति लच्छेदार भाषा मे धार्मिक दार्शनिक चर्चा करे तथापि काले रग की वह प्रभा उसके चित्त की कालिमा की स्पष्ट सूचना देती है। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, कर्मयोगी श्रीकृष्ण, प्रेममूर्ति क्राइस्ट आदि विश्व के जितने भी विशिष्ट महापुरुष है उनके चेहरो के आस-पास चित्रो मे प्रभामण्डल बनाये हुए दिखाई देते हैं जो उनकी शुभ्र आभा को प्रकट करते है। उनके हृदय की निर्मलता और अगाध स्नेह को प्रकट करते है। जिन व्यक्तियो के आस-पास काला प्रभामण्डल है उनके अन्तर्मानस मे भयकर दुर्गुणो का साम्राज्य होता है। क्रोध की आँधी से उनका मानस सदा विक्षुब्ध रहता है, मान के सर्प फूत्कारें मारते रहते है, माया और लोभ के बवण्डर उठते रहते हैं।[1] वह स्वय कष्ट सहन करके भी दूसरे व्यक्तियो को दु खी बनाना चाहता है। वैदिक साहित्य मे मृत्यु के साक्षात् देवता यम का रग काला है, क्योकि यम सदा यही चिन्तन करता रहता है कब कोई मरे और मैं उसे ले आऊँ। कृष्ण वर्ण पर अन्य किसी भी रग का प्रभाव नही होता। वैसे ही कृष्णलेश्या वाले जीवो पर भी किसी भी महापुरुष के वचनो का प्रभाव नही पडता। सूर्य की चमचमाती किरणें जब काले वस्त्र पर गिरती है तो कोई भी किरण पुन नही लौटती। काले वस्त्र मे सभी किरणें डूब जाती है। जो व्यक्ति जितना अधिक दुर्गुणो का भण्डार होगा उसका प्रभामण्डल उतना ही अधिक काला होगा। यह काला प्रभामण्डल कृष्णलेश्या का स्पष्ट प्रतीक है।

द्वितीय लेश्या का नाम नीललेश्या है। वह कृष्णलेश्या से श्रेष्ठ है। उसमे कालापन कुछ हलका हो जाता है। नीललेश्या वाला व्यक्ति स्वार्थी होता है। उसमे

---

1 उत्तराध्ययन ३४।२१-२२।

ईर्ष्या, कदाग्रह, अविद्या, निर्लज्जता, प्रद्वेष, प्रमाद, रसलोलुपता, प्रकृति की क्षुद्रता और बिना विचारे कार्य करने की प्रवृत्ति होती है।[1] आधुनिक भाषा मे हम उसे सेल्फिश कह सकते हैं। यदि उसे किसी कार्य मे लाभ होता हो तो वह अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचाने मे संकोच नही करता। किन्तु कृष्ण-लेश्या की अपेक्षा उसके विचार कुछ प्रशस्त होते हैं।

तीसरी लेश्या का नाम कापोत है जो अलसी पुष्प की तरह मटमैला अथवा कबूतर के कण्ठ के रगवाला होता है। कापोतलेश्या मे नीला रंग फीका हो जाता है। कापोतलेश्या वाले व्यक्ति की वाणी व आचरण मे वक्रता होती है। वह अपने दुर्गुणो को छिपाकर सद्गुणो को प्रकट करता है।[2] नीललेश्या से उसके भाव कुछ अधिक विशुद्ध होते हैं। एतदर्थ ही अधर्मलेश्या होने पर भी वह धर्मलेश्या के सन्निकट है।

चतुर्थ लेश्या का रग शास्त्रकारो ने लाल प्रतिपादित किया है। लाल रग साम्यवादियो की दृष्टि से क्राति का प्रतीक है। तीन अधर्मलेश्याओ से निकलकर जब वह धर्मलेश्या मे प्रविष्ट होता है तब यह एक प्रकार से क्राति ही है अतः इसे धर्म-लेश्या मे प्रथम स्थान दिया गया है।

वैदिक परम्परा मे सन्यासियो को गैरिक अर्थात् लाल रग के वस्त्र धारण करने का विधान है। हमारी दृष्टि से उन्होंने जो यह रग चुना है वह जीवन मे क्राति करने की दृष्टि से ही चुना होगा। जब साधक के अन्तर्मानस मे क्राति की भावना उद्बुद्ध होती है तो उसके शरीर का प्रभामण्डल लाल होता है और वस्त्र भी लाल होने से वे आभामण्डल के साथ घुलमिल जाते हैं। जब जीवन मे लाल रग प्रकट होता है तब उसके स्वार्थ का रग नष्ट हो जाता है। तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का स्वभाव नम्र व अचपल होता है। वह जितेन्द्रिय, तपस्वी, पापभीरु और मुक्ति की अन्वेषणा करने वाला होता है।[3] सन्यासी का अर्थ भी यही है। उसमे महत्त्वाकांक्षा नही होती। उसके जीवन का रग उषाकाल के सूर्य की तरह होता है। उसके चहरे पर साधना की लाली और सूर्य के उदय की तरह उसमे ताजगी होती है।

पचम लेश्या का नाम पद्म है। लाल के बाद पद्म अर्थात् पीले रग का वर्णन है। प्रातःकाल का सूर्य ज्यो-ज्यो ऊपर उठता है उसमे लालिमा कम होती जाती है और सोने की तरह पीत रग प्रस्फुटित होता है। लाल रग मे उत्तेजना हो सकती है पर पीले रग मे कोई उत्तेजना नही है। पद्मलेश्या वाले साधक के जीवन मे क्रोध-मान-माया-मोह की अल्पता होती है। चित्त प्रशात होता है। जितेन्द्रिय और अल्पभाषी

---

1 उत्तराध्ययन ३४।२२-२४।

2 वही ३४।२५-२६।

3 वही ३४।२७-२८।

होने से वह ध्यान-साधना सहज रूप से कर सकता है।[1] पीत रग ध्यान की अवस्था का प्रतीक है। एतदर्थ ही बौद्ध सन्यासियो के वस्त्र का रग पीला है। वैदिक परम्पराओ के संन्यासियो के वस्त्र का रग लाल है जो क्राति का प्रतीक है और बौद्ध भिक्षुओ के वस्त्र का रंग पीला है वह ध्यान का प्रतीक है।

षष्ठम लेश्या का नाम शुक्ल है। शुभ्र या श्वेत रग समाधि का रग है। श्वेत रग विचारो की पवित्रता का प्रतीक है। शुक्ललेश्या वाले व्यक्ति का चित्त प्रशान्त होता है। मन, वचन, काया पर वह पूर्ण नियन्त्रण करता है। वह जितेन्द्रिय है।[2] एतदर्थ ही जैन श्रमणो ने श्वेत रंग को पसन्द किया है। वे श्वेत रग के वस्त्र धारण करते हैं। उनका मतव्य है कि वर्तमान मे हम मे पूर्ण विशुद्धि नही है, तथापि हमारा लक्ष्य है शुक्लध्यान के द्वारा पूर्ण विशुद्धि को प्राप्त करना। एतदर्थ उन्होने श्वेत वर्ण के वस्त्रो को चुना है।

लेश्याओ के स्वरूप को समझने के लिए जैन साहित्य मे कई रूपक दिये है। उनमे से एक-दो रूपक हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। छ व्यक्तियो की एक मित्र मडली थी। एक दिन उनके मानस मे ये विचार उद्‌बुद्ध हुए कि इस समय जगल मे जामुन खूब पके हुए हैं। हम जायँ और उन जामुनो को भरपेट खायें। वे छहो मित्र जंगल मे पहुँचे। फलो से लदे हुए जामुन के पडे को देखकर एक मित्र ने कहा यह कितना सुन्दर जामुन का वृक्ष है। यह फलो से लबालब भरा हुआ है। और फल भी इतने बढिया है कि देखते ही मुँह मे पानी आ रहा है। इस वृक्ष पर चढने की अपेक्षा यही श्रेयस्कर है कि कुल्हाडी से वृक्ष को जड से ही काट दिया जाय जिससे हम आनन्द से बैठकर खूब फल खा सकें।

दूसरे मित्र ने प्रथम मित्र के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा सपूर्ण वृक्ष को काटने से क्या लाभ है? केवल शाखाओ को काटना ही पर्याप्त है।

तृतीय मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कहना भी उचित नही है। बड़ी-बडी शाखाओ को काटने से भी कोई फायदा नही है। छोटी-छोटी शाखाओ को काट लेने से ही हमारा कार्य हो सकता है। फिर बडी शाखाओ को निरर्थक क्यो काटा जाय?

चतुर्थ मित्र ने कहा—मित्र, तुम्हारा कथन भी मुझे युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। छोटी-छोटी शाखाओ को तोडने की कोई आवश्यकता नही है। केवल फलो के गुच्छो को ही तोडना पर्याप्त है।

पाँचवें मित्र ने कहा—फलो के गुच्छो को तोडने से क्या लाभ है? उस गुच्छे मे तो कच्चे और पक्के दोनो ही प्रकार के फल होते हैं। हमे पके फल ही तोडना चाहिए। निरर्थक कच्चे फलो को क्यो तोडा जाय?

---

1 उत्तराध्ययन ३४।२९-३०।

2 वही ३४।३१-३२।

छठे मित्र ने कहा—मुझे तुम्हारी चर्चा ही निरर्थक प्रतीत हो रही है। इस वृक्ष के नीचे टूटे हुए हजारो फल पडे हुए है। इन फलो को खाकर ही हम पूर्ण सन्तुष्ट हो सकते है। फिर वृक्ष, टहनियो और फलो को तोडने की आवश्यकता ही नही।

प्रस्तुत रूपक[1] के द्वारा आचार्य ने लेश्याओ के स्वरूप को प्रकट किया है। छह मित्रो मे पूर्व-पूर्व मित्रो के परिणामो की अपेक्षा उत्तर-उत्तर मित्रो के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम हैं। क्रमश उनके परिणामो मे सक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। इसलिए प्रथम मित्र के परिणाम कृष्णलेश्या वाले है, दूसरे के नीललेश्या वाले है, तीसरे की कापोतलेश्या, चतुर्थ मित्र की तेजोलेश्या, पाँचवें की पद्मलेश्या और छठे मित्र की शुक्ललेश्या है।

एक जगल मे डाकुओ का समूह रहता था। वे लूटकर अपना जीवनयापन करते थे। एक दिन छह डाकुओ ने सोचा कि किसी शहर मे जाकर हम डाका डालें। वे छह डाकू अपने स्थान से प्रस्थित हुए। छह डाकुओ मे से प्रथम डाकू ने एक गाँव के पास से गुजरते हुए कहा—रात्रि का सुहावना समय है। गाँव के सभी लोग सोए हैं। हम इस गाँव मे आग लगा दें ताकि सोये हुए सभी व्यक्ति और पशु-पक्षी आग मे झुलस कर खतम हो जायेंगे। उनके करुण-क्रन्दन को सुनकर बडा आनन्द आयगा।

दूसरे डाकू ने कहा—विना मतलव के पशु-पक्षियो को क्यो मारा जाये? जो हमारा विरोध करते हैं उन मानवो को ही मारना चाहिए।

तीसरे डाकू ने कहा—मानवो मे भी महिला वर्ग और बालक हमे कभी भी परेशान नही करते। इसलिए उन्हे मारने की आवश्यकता नही। अत. पुरुष वर्ग को ही मारना चाहिए।

चतुर्थ डाकू ने कहा—सभी पुरुषो को भी मारने की आवश्यकता नही है। जो पुरुष शस्त्रयुक्त हो केवल उन्हे मारना चाहिए।

पाँचवें डाकू ने कहा—जिन व्यक्तियो के पास शस्त्र हैं किन्तु वे हमारा किसी भी प्रकार का विरोध नही करते, उन व्यक्तियो को मारने से भी क्या लाभ?

छठे डाकू ने कहा—हमे अपने कार्य को करना है। पहले ही हम लोग दूसरो का धन चुराकर पाप कर रहे हैं, और फिर जिसका धन हम अपहरण करते हैं, उन धनिको के प्राण को लूटना भी कहाँ की बुद्धिमानी है? एक पाप के साथ दूसरा पाप करना अनुचित ही नही विलकुल अनुचित है।

इन छह डाकुओ के भी विचार क्रमशः एक-दूसरे से निर्मल होते हैं, जो उनकी निर्मल-भावना को व्यक्त करते है।[2]

---

[1] आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति, पृ०, २४५।

[2] लोक प्रकाश, सर्ग ३, श्लोक ३६३-३८०।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति मे[1] लेश्या शब्द पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा है कि लेश्या के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप होते हैं। नो-कर्मलेश्या और नो-अकर्मलेश्या ये दो निक्षेप और भी होते है। नो-कर्म लेश्या के जीव नो-कर्म और अजीव नो-कर्म ये दो प्रकार हैं। जीव नो-कर्म लेश्या भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक के भेद से वह भी दो प्रकार की है। इन दोनो के कृष्ण आदि सात-सात प्रकार हैं।

अजीव नो-कर्म द्रव्यलेश्या के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारक, आभरण, छादन, आदर्श, मणि तथा काकिनी ये दस भेद है और द्रव्य कर्म लेश्या के छह भेद है।

आचार्य जयसिंह ने सयोगज, नाम की सातवी लेश्या भी मानी है जो शरीर की छाया रूप है। कितने ही आचार्यों का मन्तव्य है कि औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र, कार्मण काय का योग ये सात शरीर हैं तो उनकी छाया भी सप्तवर्णात्मिका होगी, अत लेश्या के सात भेद मानने चाहिए।[2]

लेश्या के सम्बन्ध मे एक गम्भीर प्रश्न है कि किस लेश्या को द्रव्य-लेश्या कहे और किसे भाव-लेश्या कहे ? क्योकि आगम साहित्य मे कही-कही पर द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव परिणति वतायी गयी है, तो कही पर द्रव्यलेश्या के विपरीत भाव-परिणति बतायी गयी है। जन्म से मृत्यु तक एक ही रूप मे जो हमारे साथ रहती है वह द्रव्यलेश्या है। नारकीय जीवो मे तथा देवो मे जो लेश्या का वर्णन किया गया है वह द्रव्यलेश्या की दृष्टि से किया गया है। यही कारण है कि तेरह सागरिया जो किल्विषिक देव हैं वे जहाँ एकान्त शुक्ललेश्यी है वहाँ वे एकान्त मिथ्यादृष्टि भी हैं। प्रज्ञापना मे ताराओ का वर्णन करते हुए उन्हे पाँच वर्ण वाले और स्थित लेश्या वाले वताया है।[3] नारक

---

1 जाणग भवियसरीरा तव्वइरित्ता य सापुणो दुविहा।
कम्मा नो कम्मे या नो कम्मे हुन्ति दुविहा उ॥ ३५॥
जीवाणमजीवाणय दुविहा जीवाण होइ नायव्वा।
भवमभवसिद्धियाण दुविहाणवि होइ सत्तविहा॥ ३६॥
अजीव कम्मनो दव्वलेसा सा दसविहा उ नायव्वा।
चदाण य सूराण य गहगण णक्खत्ततारराण॥ ३७॥
आभरण छायणा दशगाण मणि कागिणी ण जा लेसा।
अजीव दव्वलेसा नायव्वा दसविहा एसा॥ ३८॥
—उत्तराध्ययन ३४, पृ०, ६५०

2 जयसिंह सूरि – षट् सप्तमी सयोगजा इय च शरीरच्छायात्मका परिगृह्यते अन्येत्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादि भेदत सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपा नोकर्माणि सप्तविधा जीव द्रव्य लेश्या मन्यते तथा।
—उत्तरा० ३४, टीका० पृ०, ३५०

3 ताराओ पञ्च वण्णओ ठिपले साचारिणो। —प्रज्ञा० पद २

और देवो को जो स्थित लेश्या कहा गया है, सम्भव है पाप और पुण्य की प्रकर्षता के कारण उनमे परिवर्तन नही होता हो। अथवा यह भी हो सकता है कि देवो मे पर्यावरण की अनुकूलता के कारण शुभ द्रव्य प्राप्त होते हों और नारकीय जीवो मे पर्यावरण की प्रतिकूलता के कारण अशुभ द्रव्य प्राप्त होते हो। वातावरण से वृत्तियाँ प्रभावित होती हैं। मनुष्य गति और तिर्यञ्च गति मे अस्थित लेश्याएँ हैं। पृथ्वीकाय मे कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अप्रशस्त लेश्याएँ बतायी हैं। ये द्रव्यलेश्या हैं या भावलेश्या? क्योकि स्फटिक मणि, हीरा, मोती, आदि रत्नो मे धवल प्रभा होती है, इसलिए द्रव्य अप्रशस्त लेश्या कैसे सम्भव है? यदि भाव लेश्या को माना जाय तो भी प्रश्न है कि पृथ्वीकाय से निकलकर कितने ही जीव केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं तो पृथ्वीकाय के उस जीव ने अप्रशस्त भाव-लेश्या मे केवली के आयुष्य का बन्धन कैसे किया? भवनपति और वाणव्यन्तर देवो मे चार लेश्याएँ हैं—कृष्ण, नील, कापोत और तेजो। तो क्या कृष्णलेश्या मे आयु पूर्ण करने वाला व्यक्ति असुरादि देव हो सकता है? यह प्रश्न आगममर्मज्ञो के लिए चिन्तनीय है। कहाँ पर द्रव्य लेश्या का उल्लेख है और कहाँ पर भावलेश्या का उल्लेख—इसकी स्पष्ट भेद-रेखा आगमो मे नही की गयी है, जिससे विचारक असमजस मे पड़ जाता है।

उपर्युक्त पक्तियो मे जैन दृष्टि से लेश्या का जो रूप रहा है उस पर और उसके साथ ही आजीवक मत मे, बौद्ध मत मे व वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे लेश्या से जो मिलता-जुलता वर्णन है उस पर हमने बहुत ही सक्षेप मे चिन्तन किया है। उत्तरा-ध्ययन, भगवती, प्रज्ञापना और उत्तरवर्ती साहित्य मे लेश्या पर विस्तार से विश्लेषण है, किन्तु विस्तार भय से हमने जान करके भी उन सभी बातो पर प्रकाश नही डाला है। यह सत्य है कि परिभाषाओ की विभिन्नता के कारण और परिस्थितियो को देखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहना कठिन है कि अमुक स्थान पर अमुक लेश्या ही होती है। क्योकि कही पर द्रव्यलेश्या की दृष्टि से चिन्तन है, तो कही पर भावलेश्या की दृष्टि से और कही पर द्रव्य और भाव दोनो का मिला हुआ वर्णन है। तथापि गहराई से अनुचिन्तन करने पर वह विषय पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी जो रंगो की कल्पना की गयी है उनके साथ भी लेश्या का किस प्रकार समन्वय हो सकता है इस पर भी हमने विचार किया है। आगम के मर्मज्ञ मनीषियो को चाहिए कि इस विषय पर शोधकार्य कर नये तथ्य प्रकाश मे लाये जायँ।

●

५

व्यवहार सूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति विश्व की महान् संस्कृति है। यह अतीतकाल से ही जन-जन के अन्तर्मानस मे पवित्र प्रेरणा का स्रोत बहाती रही है। यह संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण इन दो धाराओ मे विभक्त रही है। श्रमण और ब्राह्मण युग-युग से भारतीय सस्कृति का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं। आत्मा, परमात्मा और विराट् विश्व के सम्बन्ध मे वे गहराई से अनुशीलन-परिशीलन करते रहे हैं। भारतीय तत्त्वद्रष्टा ऋषि-महर्षि, श्रमण और मुनि तथा मूर्धन्य मनीषीगण ने अपने अनूठे तत्त्वज्ञान के द्वारा जो जन-जीवन को आध्यात्मिक, नैतिक व सास्कृतिक आलोक प्रदान किया वह चिन्तन आज भी प्राचीन साहित्य के रूप मे उपलब्ध है।

भारतीय चिन्तन को हम श्रुत और श्रुति के रूप जानते हैं। श्रुति वेदो की प्राचीन सज्ञा है, वह ब्राह्मण सस्कृति से सम्बन्धित मूल वैदिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है और वही बाद मे शैव और वैष्णव प्रभृति धर्म परम्पराओ का मूलाधार बनी। श्रुत श्रमण-सस्कृति का मूल स्रोत है। यद्यपि श्रुति और श्रुत दोनो का ही सम्बन्ध श्रवण मे है, जो सुनने मे आता है वह श्रुत है[1] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सामान्य व्यक्तियो का कथन श्रुत और श्रुति नही है। पर जो विशिष्ट ज्ञाता आप्तपुरुष हैं, उन्ही का कथन श्रुति और श्रुत के रूप मे विश्रुत रहा है।

ब्राह्मण परम्परा का मूल वैचारिक स्रोत वेद हैं। वैदिक परम्परावादी विज्ञो का अभिमत है कि वेद ईश्वर की वाणी है। वेद किसी सामान्य व्यक्ति विशेष के द्वारा कहा हुआ नही, अपितु ईश्वर द्वारा उपदिष्ट विचारो का संकलन है। कितने ही विचारक यह भी मानते हैं कि वेद तत्त्वद्रष्टा ऋषियो की अनुभूत वाणी का संकलन व आकलन है। प्रारम्भ मे वेद सख्या की दृष्टि से तीन थे। अत वे वेदत्रयी के रूप मे विश्रुत रहे। पश्चात् अथर्व को मिला देने से वेदो की सख्या चार हो गयी। भाषा की दृष्टि से यह साहित्य संस्कृत मे है। वेदो की व्याख्या ब्राह्मण और आरण्यक

---

1 (क) तत्त्वार्थसूत्र-राजवार्तिक।
(ख) विशेषावश्यक भाष्य—मलधारीयावृत्ति।

ग्रन्थो मे हुई जहाँ पर मुख्य रूप से कर्मकाण्ड का विश्लेपण है। उपनिषदों में ज्ञान-काण्ड की प्रधानता है। वेदो को प्रमाण मानकर स्मृति और सूत्र साहित्य का निर्माण हुआ है।

श्रमण-सस्कृति दो विभागो मे विभक्त हुई—एक बौद्ध और दूसरी जैन। बौद्ध सस्कृति का प्रतिनिधित्व तथागत बुद्ध ने किया। बुद्ध ने अपने जिज्ञासुओ को जो उपदेश प्रदान किया वह त्रिपिटक साहित्य के रूप मे उपलब्ध है। त्रिपिटक बुद्ध के उपदेशो का एक सुन्दर संकलन है—सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्तपिटक मे सूत्र के रूप मे बहुत ही सक्षेप मे उपदेश दिया गया है। विनयपिटक मे आचार-सहिता का विश्लेषण है और अभिधम्मपिटक मे तत्त्वो का गहराई से विवेचन है। बौद्ध साहित्य बहुत ही विशाल है। तथापि यह कहा जा सकता है कि त्रिपिटक मे बौद्ध विचारो का नवनीत है। त्रिपिटक साहित्य की भापा पाली है जो उस युग की जन भापा थी।

श्रमण सस्कृति का दूसरा रूप जैन सस्कृति है। जिन की वाणी व उपदेश मे जिसे विश्वास है वह जैन है। यहाँ पर 'जिन' मे तात्पर्य राग-द्वेष रूप आत्म-विकारो पर विजय करने वाले जिन याने तीर्थंकर हैं। तीर्थंकरो की पवित्र वाणी का सकलन आगम है। आगम आत्मिक ज्ञान-विज्ञान का अक्षयकोष है। उसमे साधक के अन्तर्मानस मे उद्‌बुद्ध होने वाली जिज्ञासाओ का व्यापक समाधान है।

प्राचीन काल से जैन परम्परा का श्रुत साहित्य अग-प्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो रूपो मे विभक्त है।[1] अग-प्रविष्ट श्रुत वह है जो अर्थ रूप मे महान् ऋपि तीर्थंकरो से द्वारा कहा गया है और उसके पश्चात् तीर्थंकर के प्रधान शिष्य श्रुत केवली गणधरो के द्वारा सूत्र रूप मे रचा गया है।[2]

अगबाह्य श्रुत वह है जो गणधरो के पश्चात् विशुद्धागम विशिष्ट बुद्धिशक्ति-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा काल एव सहनन प्रभृति दोषो के कारण अल्पबुद्धि शिष्यो के अनुग्रह के लिए स्थविरो के द्वारा रचित है।[3] अगप्रविप्ट-श्रुत गणनायक आचार्यों का सर्वस्व होने से उसे गणिपिटक कहा गया है।[4] वह सख्या की दृष्टि से बारह प्रकार का है[5] जैसे (१) **आयार** (आचार) (२) **सूयगड** (सूत्रकृत), (३) **ठाण** (स्थान), (४) **समवाय** (समवाय), (५) **विवाहपन्नत्ति** (व्याख्याप्रज्ञप्ति) या (भगवती), (६) **नाया-**

---

1 नन्दी सूत्र—श्रुतज्ञान प्रकरण।

2 तत्त्वार्थ० स्वोपज्ञभाष्य १-२०।

3 वही० १-२०।

4 (क) अनुयोग द्वार—प्रमाण प्रकरण।
(ख) समवायाग, समवाय १४८।

5 नन्दीसूत्र—श्रुत ज्ञान प्रकरण।

धम्मकहा (ज्ञाताधर्मकथा), (७) **उवासगदसा** (उपासकदशा), (८) **अंतगडदसा** (अन्तकृत्दशा), (९) **अणुत्तरोववाईयदसा** (अनुत्तरोपपातिकदशा), (१०) **पण्हावागरणाइ** (प्रश्नव्याकरणानि), (११) **विवागसुय** (विपाकसूत्र), (१२) **दिट्ठिवाय** (दृष्टिवाद या दृष्टिपात)।

दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका[1] ये पाँच प्रकार थे। उसमे पूर्वगत मे उत्पाद, अग्रायणीय आदि चौदह पूर्व थे। दृष्टिवाद अग श्रमण भगवान महावीर-परिनिर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हो गया।

अगो की सख्या निर्धारित है, पर अग-बाह्य आगमो की सख्या निर्धारित नही है। आचार्य उमास्वाति ने अग-बाह्य आगमो की सख्या का उल्लेख करते हुए उसे अनेक कहा है।[2] अग-बाह्य को आचार्य देववाचक ने आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त इन दो भागो मे विभक्त किया है।[3] और साथ ही कालिक और उत्कालिक के रूप मे भी।[4] आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छ प्रकार हैं और आवश्यक व्यतिरिक्त मे औपपातिक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, निशीथ, व्यवहार आदि अनेक आगम है। कालिक मे उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कध, कल्प, व्यवहार आदि अनेक आगम आते हैं और उत्कालिक मे सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषीमडल आदि अनेक आगम है।

आचार्य आर्यरक्षित ने आगमो को अनुयोगो के आधार से चार भाग मे विभक्त किया है[5]—

(१) **चरण-करणानुयोग**—कालिकश्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि।
(२) **धर्म-कथानुयोग**— ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि।
(३) **गणितानुयोग**—सूर्यप्रज्ञप्ति आदि।
(४) **द्रव्यानुयोग**—दृष्टिवाद आदि।

विषय सादृश्य की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण है, पर व्याख्या क्रम की दृष्टि से आगमो के दो रूप प्राप्त होते है[6]—

(१) अपृथक्त्वानुयोग,
(२) पृथक्त्वानुयोग,

---

1 भगवती २०/८ (ख) तित्थोगाली ८०१।
2 तत्त्वार्थसूत्र १-२०।
3 नन्दीसूत्र सू ८२ (पुण्यविजयजी)।
4 वही० सू ८३-८४ (पुण्यविजयजी)।
5 (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६३-३६७
(ख) विशेपावश्यक भाष्य २२८४-२२९५
(ग) दशवैकालिकनिर्युक्ति ३ टीका
6 सूत्रकृताग चूर्णि पत्र-४।

जिनदासगणी महत्तर[1] ने लिखा है—अपृथक्त्वानुयोग के समय प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण, करण, धर्म, गणित और द्रव्य, अनुयोग एवं सप्तनय की दृष्टि से की जाती थी, पर पृथक्त्वानुयोग मे चारो अनुयोगो की व्याख्याएँ पृथक्-पृथक् रूप मे की जाने लगी। अनुयोगो के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है, वह वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से है। उदाहरणार्थ, उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत लिया है, पर उसमे दार्शनिक तथ्य भी पर्याप्त मात्रा मे रहे हुए हैं। इसी तरह, अन्य आगमो के सम्बन्ध मे भी यह बात रही हुई है क्योकि कुछ आगमो को छोडकर शेष आगमो मे चारो अनुयोगो का सम्मिश्रण है।

आगमो का सबसे अन्तिम वर्गीकरण अग, उपाग, मूल और छेद के रूप मे प्राप्त होता है। नन्दी मे जो आगमो का विभाग किया गया है, मूल, छेद और उपाग के रूप मे नही हुआ है और न वहाँ ये शब्द ही है। उपाग के अर्थ मे ही अग-बाह्य शब्द आया है। उपाग का उल्लेख तत्त्वार्थभाष्य मे मिलता है।[2] और उसके पश्चात् आचार्य श्रीचन्द के सुखबोधा समाचारी मे[3], आचार्य जिनप्रभरचित विधिमार्गप्रपा मे[4] तथा वायणाविहि[5] मे उपाग शब्द का प्रयोग हुआ है। पं० बेचरदासजी दोशी[6] का मानना है कि चूर्णी साहित्य मे भी उपाग शब्द आया है।

मूल और छेद विभाग नन्दी आदि मे नही मिलता। मूल और छेद का विभाग सर्वप्रथम प्रभावक चरित[7] मे प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उपाध्याय समयसुन्दरगणी के समाचारी शतक[8] मे उपलब्ध होता है। छेद सूत्र का नामोल्लेख आवश्यक निर्युक्ति[9] मे सर्वप्रथम हुआ है। उसके बाद विशेषावश्यकभाष्य और[10] निशीथभाष्य मे हुआ[11] है। यह स्पष्ट है कि मूल सूत्र से पहले छेद सूत्र का नामकरण हुआ।

छेद सूत्रो के नामकरण के सम्बन्ध मे प्राचीन ग्रन्थो मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। यह स्पष्ट है कि जिन आगमो को छेद-सूत्र के अन्तर्गत गिना है वे

---

1 सूत्रकृताग चूर्णि पत्र-४।
2 तत्त्वार्थसूत्र तत्त्वार्थ भाष्य १-२०।
3 सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ ३१-३४।
4 'इयाणि उवगा'—विधिमार्गप्रपा।
5 वायणाविहि, पृ० ६४।
6 जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३०।
7 प्रभावक चरित-२४१ द्वितीय आर्यरक्षित प्रबन्ध।
8 समाचारी शतक।
9 आवश्यकनिर्युक्ति ७७७।
10 विशेषावश्यकभाष्य २२९५।
11 निशीथभाष्य ५९४७।

प्रायश्चित्त सूत्र है। पाँच चारित्रो मे, द्वितीय चारित्र छेदोपस्थापनिक है।[1] प्रायश्चित्त का सम्बन्ध इसी चारित्र से है। अतः इनका नाम छेद सूत्र रखा गया हो। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति मे[2] छेद-सूत्रो के लिए पद-विभाग, समाचारी, शब्द व्यवहृत हुए हैं। पद-विभाग और छेद दोनो समानार्थ वाले हैं। इस दृष्टि से भी सम्भव है छेद-सूत्र यह नाम रखा गया हो। छेद सूत्र मे एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नही होता। उसमे प्रत्येक सूत्र स्वतन्त्र होता है। उनकी व्याख्या विभाग की दृष्टि से की जाती है।

निशीथ-भाष्य मे[3] और चूर्णि मे[4] छेद सूत्रो को उत्तम श्रुत कहा गया है। क्योकि छेद सूत्र प्रायश्चित्त विधि का निरूपण करते हैं। उससे चारित्र की शुद्धि होती है। इसलिए वह उत्तम श्रुत है।

श्रमण-जीवन की साधना का सभी दृष्टियो से पूर्ण विवेचन छेद-सूत्रो मे प्राप्त होता है। साधक की मर्यादा, उसका कर्तव्य आदि विविध दृष्टियो पर छेद-सूत्रो मे विचार किया गया है। साधना करते कही स्खलना हो जाय, दोप-जन्य मलिनता आ जाय, भूलो से जीवन कलुपित हो जाय उसके परिष्कार हेतु प्रायश्चित्त का विधान है और यह सारा कार्य छेद-सूत्र का है।

छेद सूत्रो मे जो आचार-सहिता है उसे हम उत्सर्ग, अपवाद, दोष, और प्रायश्चित्त इन चार भागो मे विभक्त कर सकते है।[5] उत्सर्ग से तात्पर्य है किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है परिस्थिति विशेष की दृष्टि से विशेष विधान। दोप का अर्थ है उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भग करना और प्रायश्चित्त का अर्थ है व्रत भग होने पर उचित दण्ड लेकर उस दोष का शुद्धीकरण करना। किसी भी विधान के लिए चार बातें आवश्यक है। सर्वप्रथम नियम बनते हैं। उसके बाद देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसमे किंचित् छूट दी जाती है। यह परिस्थिति विशेप के लिए अपवाद की व्यवस्था की गयी है। जो दोष साधक को लग सकते हैं उन दोषो की एक लम्बी सूची छेद सूत्रो मे प्राप्त होती है। इस सूची से तात्पर्य है उन दोषो से साधक वचने का प्रयास करे। यदि सावधानी रखने के बावजूद भी दोष लग जायँ तो प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से पुराने दोषो की शुद्धि होती है और नवीन दोष न लगे इसके लिए साधक को सतत सावधान रखने के लिए प्रेरणा मिलती है।

---

1 विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १२६०-१२७०।

2 आवश्यक मलयगिरि वृत्ति ६६५।

3 निशीथभाष्य ६१४८।

4 निशीथचूर्णि ६१८४।

5 जैन आगम साहित्य ' मनन और मीमासा' पृ० ३४७।

छेद-सूत्रो मे आचार सम्बन्धी जिस प्रकार के नियम और उपनियमो का विवेचन सप्राप्त होता है उसी तरह का वर्णन बौद्ध साहित्य मे भी प्राप्त होता है। विनयपिटक[1] मे भी प्रायश्चित्त का विधान है। जिसमे विविध प्रकार के दोषों का उल्लेख करते हुए उसकी शुद्धि का वर्णन है। विस्तार भय की दृष्टि से हम यहाँ पर उसकी छेद-सूत्रो के साथ तुलना नही कर रहे हैं। पर हम विज्ञो का ध्यान इस ओर केन्द्रित करते हैं कि यदि विस्तार के साथ तुलनात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो बहुत कुछ नये तथ्य प्रकट होगे और साथ ही यह परिज्ञान होगा कि श्रमण-सस्कृति की दोनो धाराओ मे कितनी अधिक समानता है। साथ ही वैदिक परम्परा मान्य कल्प-सूत्र, श्रौत सूत्र और गृहसूत्र मे वर्णित आचार-सहिता की तुलना छेद-सूत्रो के नियमोपनियमो के साथ सहज रूप से की जा सकती है।

यह बात स्पष्ट है कि छेद-सूत्रो का विषय अत्यन्त गहन है। मैं प्रबुद्ध पाठको से विनम्र निवेदन करना चाहूँगा कि वे छेद-सूत्रो का अध्ययन करते समय पूर्वापर-प्रसगो को गहराई से समझने का प्रयत्न करें। ऐतिहासिक दृष्टि से वे स्थितियो को समझने का ध्यान रखें। जब तक साधक श्रमण धर्म के, आचार धर्म के गहन रहस्य, सूक्ष्म क्रिया-कलाप, न समझेगा तब तक वह छेद सूत्रो के मर्म को नही समझ सकेगा। छेद सूत्र ऐसे प्रकाश स्तम्भ है जिसके निर्मल आलोक मे साधक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होने पर सही निर्णय ले सकता है। छेद-सूत्रो मे जैन सस्कृति के गहन आचार और विचारो का जो विश्लेषण हुआ है, वह अद्वितीय है अपूर्व है। उसमे सस्कृति की महान् गरिमा और महिमा रही है।

समाचारी शतक[2] मे समयसुन्दरगणी ने छेद-सूत्रो की सख्या छ बतलायी है—

(१) दशाश्रुतस्कध (२) व्यवहार (३) बृहत्कल्प (४) निशीथ (५) महानिशीथ और (६) जीतकल्प।

नन्दी सूत्र[3] मे जीतकल्प के अतिरिक्त पाँच नाम उपलब्ध होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि दशाश्रुतस्कध, बृहत्कल्प, और व्यवहार ये तीनो आगम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु स्वामी ने प्रत्याख्यानपूर्व से निर्यूढ किये है।[4] निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से किया गया है।[5] पचकल्प चूर्णि[6] के अनुसार निशीथ के

---

1 विनय पिटक—पाराजित पाली, भिक्खु पातिमोक्ख भिक्खुणी पातिमोक्ख।

2 समाचारी शतक—आगमस्थापनाधिकार।

3 नन्दीसूत्र ७७।

4 (क) दशाश्रुतस्कधनिर्युक्ति, गाथा १, पत्र १।
(ख) पचकल्पभाष्य, गाथा ११।

5 निशीथभाष्य ६५००।

6 पचकल्पचूर्णि पत्र १, लिखित।

निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी है। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी[1] का भी यही अभिमत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चारो छेद-सूत्रो के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं।[2] किन्तु 'जीतकल्प' भद्रबाहु स्वामी की कृति नही है। उसके रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं।[3] और महानिशीथ जो वर्तमान मे उपलब्ध है वह आचार्य हरिभद्र के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है।[4] महानिशीथ के सम्बन्ध मे मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमासा' मे विस्तार से उसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है।[5] मैं पाठको को उसे पढने का सूचन करता हूँ। यह सत्य है कि महानिशीथ का मूल सस्करण दीमको के द्वारा नष्ट हो जाने के पश्चात् वर्तमान मे जो महानिशीथ उपलब्ध है वह महानिशीथ का नवीन सस्करण है। इस तरह चार मौलिक छेद-सूत्र है, दशाश्रुतस्कध, व्यवहार, बृहत्कल्प और निशीथ।

निर्यूहण कृतियो के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्ररूप के रचयिता गणधर है और जिन आगमो पर जिनके नाम उट्टंकित हैं वे उसके सूत्र रचयिता है, जैसे दशवैकालिक के शय्यभव और छेदसूत्रो के रचयिता भद्रबाहु स्वामी हैं। पर अर्थ के प्ररूपक तो तीर्थंकर ही हैं।

व्यवहार सूत्र और उसके व्याख्या साहित्य का परिचय

छेद-सूत्रो मे व्यवहार का विशिष्ट स्थान है, अन्य छेद-सूत्रो की भाँति प्रस्तुत आगम मे भी श्रमणो की आचार-सहिता पर चिन्तन किया गया है। बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार मे दस उद्देशक है, ३७३ अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण मूल-पाठ उपलब्ध होता है। २६७ सूत्र सख्या है। व्यवहार सूत्र पर उसकी व्याख्या करने हेतु भद्रबाहु रचित निर्युक्ति प्राप्त होती है और साथ ही व्यवहार पर भाष्य भी प्राप्त होता है। उस भाष्य के रचयिता कौन हैं— इस सम्बन्ध मे इतिहास तत्त्वविद् मनीषी निर्णय नही कर सके हैं। व्यवहार पर एक चूर्णि भी उपलब्ध होती है और साथ ही सस्कृत भाषा मे व्यवहार पर एक वृत्ति भी मिलती है। इन सभी का सक्षेप मे परिचय हम प्रस्तुत करेंगे, जिससे ज्ञात हो सकेगा कि व्यवहार सूत्र का कितना गहरा महत्व रहा है। जिस पर सभी व्याख्याकारो ने अपनी कलम चलाई है।

अन्तर् दर्शन

व्यवहार सूत्र के दस उद्देशक हैं, उसमे प्रथम उद्देशक मे भिक्षु और भिक्षुणी के लिए त्यागने योग्य मूलगुण या उत्तरगुण के दोष का सेवन किया हो, जिसका

---

1 बृहत्कल्प सूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ० २।
2 दशाश्रुतस्कधनिर्युक्ति, गाथा १।
3 जीतकल्पचूर्णि, गाथा ५-१०।
4 जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० २६२।
5 जैन आगम साहित्य . मनन और मीमासा, पृ० ४०७ से ४१०।

प्रायश्चित्त एक मास की सज्ञा से अभिहित है। दोष लगने वाले श्रमण और श्रमणी को आचार्य आदि के समक्ष कपट रहित आलोचना करनी चाहिए। उन्हे एक मासिक प्रायश्चित्त आता है, जबकि कपट सहित आलोचना करने पर उसी दोष का द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है। जिसकी कपट रहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है किन्तु उसी दोष की आलोचना कपट सहित करने से त्रिमासिक प्रायश्चित्त आता है। इस तरह अधिक से अधिक छ मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस साधक ने अनेक दोषो का सेवन किया हो उस साधक को क्रमश: दोषो की आलोचना करनी चाहिए और प्रायश्चित्त लेकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। प्रायश्चित्त ग्रहण करते समय यदि पुन: दोष लग जाय तो उन दोषो को न छिपाये, किन्तु दोषो की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्धीकरण करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को गुरुजनो की आज्ञा प्राप्त कर ही अन्य श्रमणो के साथ उठना बैठना चाहिए। यदि वह गुरुजनो की आज्ञा की अवहेलना करता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त दिया जाता है। परिहारकल्प मे अवस्थित श्रमण आचार्य आदि की अनुमति से परिहारकल्प को छोडकर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

यदि कोई श्रमण विशिष्ट साधना के लिए गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है, पर वह अपने को शुद्ध आचार पालन करने मे असमर्थ अनुभव करता हो तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

आलोचना आचार्य उपाध्याय के समक्ष करके उस दोष का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धीकरण करना चाहिए। उनकी अनुपस्थिति मे अपने सभोगी साधर्मिक बहुश्रुत आदि के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वे न हो तो अन्य समुदाय के सभोगी बहुश्रुत श्रमण के सामने आलोचना करनी चाहिए। यदि वह भी न हो तो सदोषी बहुश्रुत श्रमण हो तो वहाँ जाकर, उसके अभाव मे बहुश्रुत श्रमणोपासक या सम्यक्-दृष्टि श्रावक या उसके भी अभाव मे ग्राम या नगर के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खडा होकर अपने अपराध की आलोचना करे। जीवन विशुद्धि के लिए आलोचना अत्यधिक आवश्यक है।

द्वितीय उद्देशक मे बताया है, जिसने दोष का सेवन किया हो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। अनेक श्रमणो मे से एक ने भी अपराध किया है तो उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त सभी प्रायश्चित्त लेकर पहले शुद्धीकरण करे और उन सभी का प्रायश्चित्त काल पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे।

परिहारकल्प स्थित श्रमण यदि व्याधि-ग्रस्त हो तो उसे गच्छ से बाहर निकालना सर्वथा अनुचित है। स्वस्थ होने पर उसे गणावच्छेदक से प्रायश्चित्त लेकर

शुद्धीकरण करना चाहिए। इसी प्रकार अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था मे गच्छ से बाहर नही करना चाहिए। विक्षिप्त-चित्त और दीप्तचित्त की सेवा करनी चाहिए और स्वस्थ होने पर प्रायश्चित्त देकर उसका शुद्धीकरण करना चाहिए। अनवस्थाप्य और पाराचिक के सम्बन्ध मे भी चर्चा की गयी है। पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमणो की मर्यादा निश्चित की गयी है।

तृतीय उद्देशक मे श्रमण स्वतन्त्र और गच्छ का अधिपति बनकर विचरण करना चाहे तो उसे आचाराग आदि का परिज्ञाता होना आवश्यक है और साथ ही स्थविर की अनुमति भी। उपाध्याय वही बन सकता है जो कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला हो, आगम का मर्मज्ञ हो, प्रायश्चित्त शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, चारित्रवान् और बहुश्रुत हो। आचार्य वही बन सकता है जो कम से कम पाँच वर्ष का दीक्षित हो, क्षमण की आचार-सहिता मे कुशल हो, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, बृहत्कल्प, व्यवहार आदि का ज्ञाता हो। अपवाद के रूप मे एक दिन की दीक्षा पर्याय-वाला भी आचार्य और उपाध्याय बन सकता है, पर उसके लिए प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत तथा गुणसम्पन्न होना अनिवार्य है।

चतुर्थ उद्देशक मे आचार्य और उपाध्याय के साथ कम से कम एक और वर्षावास मे दो साधु का होना आवश्यक है। आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उनके अभाव मे कैसे रहना चाहिए और किस तरह आचार्य आदि पद पर प्रति-ष्ठित करना चाहिए, इस पर चिन्तन किया है।

पाँचवें उद्देशक मे प्रवर्तिनी के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए वैय्यावृत्य पर विचार किया है।

छठे उद्देशक मे अपने परिजनो के वहाँ पर जाने के लिए स्थविरो की अनुमति आवश्यक है। श्रमण और श्रमणी बहुश्रुत श्रमण-श्रमणी के साथ जाय, पर एकाकी नही। आचार्य, उपाध्याय उपाश्रय मे आवें तो उनके पांव पोछकर साफ करना चाहिए, उनकी वैय्यावृत्य करनी चाहिए और उनके बाहर जाने पर उनके साथ जाना चाहिए आदि पर विस्तार से चर्चा है।

सातवें उद्देशक मे श्रमण महिला को और श्रमणी पुरुष को दीक्षा न दें। यदि किसी को उत्कृष्ट वैराग्य भावना हो गयी हो तो इस शर्त पर कि दीक्षा देकर श्रमणी को श्रमणी-समुदाय की सेवा मे पहुँचा दिया जाय और श्रमण को श्रमण-समुदाय की सेवा मे। जहाँ पर दुष्ट व्यक्तियो की प्रधानता हो वहाँ श्रमणियो को विचरण नही करना चाहिए, क्योकि व्रतभग आदि का भय रहता है। पर श्रमणो के लिए वह मर्यादा नही, आदि अनेक बातें हैं।

आठवें उद्देशक मे श्रमणो के उपकरणो पर चिन्तन है। यदि किसी स्थान पर कोई श्रमण उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण, जहाँ पर उपकरण भूला है,

वह उस उपकरण को लेकर अपने स्थान पर आये और जिसका उपकरण हो उसे प्रदान करे, पर वह उपकरण यदि किसी सन्त का नही है तो उसका उपयोग न करे और निर्दोष स्थान पर परित्याग कर दे। इस उद्देशक मे आहार के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्पाहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभाग प्राप्त, चौवीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी और उससे एक ग्रास कम करने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नौवें उद्देशक मे बताया है कि शय्यातर आदि का आहार श्रमण-श्रमणियो के लिए ग्राह्य नही है। साथ ही, श्रमण की द्वादश प्रतिमाओ के सम्बन्ध मे भी वर्णन है।

दशवें उद्देशक मे यवमध्यचन्द्र प्रतिमा तथा वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा के स्वरूप पर विश्लेषण करते हुए कहा है—जो जौ के कण के सदृश मध्य मे मोटी हो और दोनो ही ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्र प्रतिमा है, जो वज्र के समान मध्य मे पतली हो और दोनो ओर मोटी होती है वह वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा है। यवमध्यचन्द्र प्रतिमा को जो श्रमण धारण करता है वह श्रमण एक महीने तक अपने तन की ममता को छोडकर देव-मानव और तिर्यंच सम्बन्धी अनुकूल और प्रतिकूल परीषहो सहन करता है। उपसर्गों को सहन करते समय उसके अतर्मानस मे तनिक मात्र भी विषमता नही आती। वह शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ती आहार की ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्णमासी तक पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष मे क्रमश एक दत्ती कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्र प्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा मे कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्ती आहार की और पन्द्रह दत्ती पानी की ग्रहण की जाती हैं और क्रमश एक-एक दिन एक-एक दत्ती कम कर अमावस्या को एक दत्ती आहार और एक दत्ती पानी ग्रहण करता है। और शुक्लपक्ष मे एक-एक दत्ती बढाकर पूर्णमासी को उपवास करता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार—ये पाँच प्रकार हैं। स्थविर के जातिस्थविर, श्रुतस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर ये तीन प्रकार हैं। शैक्ष भूमियाँ तीन हैं – सप्तरात्रिन्दिनी, चातुर्मासिकी और षाण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले को दीक्षा देना नही कल्पता।[1] जिनकी उम्र बहुत छोटी है वे आचा-

---

1 विनयपिटक मे २० वर्ष से कम उम्रवाले व्यक्ति को दीक्षा नही देना, विनय-पिटक-भिक्खुपतिमोक्खापाचित्तय, ६५ के साथ तुलना करने से उस युग की भिन्न विचारधाराओ का भी पता लगता है।

रांग सूत्र को पढने के अधिकारी नही। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले श्रमण को आचाराग पढाना कल्पता है। चार वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को सूत्रकृताग, पाँच वर्ष की दीक्षा पर्यायवाले को दशाश्रुतस्कन्ध, वृहतकल्प और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानाग, समवायाग, दस वर्ष की दीक्षावाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति, ग्यारह वर्ष वाले को लघु विमान प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अगचूलिका बंग-चूलिका, विवाहचूलिका, बारह वर्ष की दीक्षावाले को अरुणोपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक, वैलधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षावाले को उपस्थानश्रुत, समुपस्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात, नागपरयापनिका, चौदह वर्ष की दीक्षावाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षावाले को चारण भावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनी शतक, सत्रह वर्ष की दीक्षावाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षावाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षावाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षावाले को सभी प्रकार के शास्त्र पढना कल्पता है।

वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) शैक्ष-छात्र (६) ग्लान-रुग्ण (७) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) सघ। इनकी सेवा करने से कर्मों की महान निर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम मे अनेक विषयो पर गहराई से प्रकाश डाला गया है।

व्यवहार व्याख्या-सहित

मैं पूर्व ही लिख चुका हूँ कि व्यवहार श्रमण-जीवन की साधना का एक जीवन्त भाष्य है। आगम मे जिन बातो पर चिन्तन किया गया है उन्ही पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा मे जो पद्यवद्ध टीकाएँ लिखी गयी हैं वे निर्युक्तियाँ है। निर्युक्तियो मे मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गयी है। निर्युक्तियो की व्याख्या निक्षेप पद्धति पर अवलम्बित है। अनेक सम्भावित अर्थ को बताने के पश्चात् अप्रस्तुत अर्थ को छोडकर प्रस्तुत पद को ग्रहण किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—[1]सूत्र अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है।

व्यवहारनिर्युक्ति मे भी उत्सर्ग और अपवाद का विवेचन है। इस निर्युक्ति पर भाष्य भी है जो अधिक विस्तृत है। निर्युक्ति और भाष्य मे यह अन्तर है कि निर्युक्तियो की व्याख्या शैली बहुत ही गूढ और सक्षिप्त है। निर्युक्तियो के गम्भीर रहस्यो को प्रकट करने के लिए विस्तार से निर्युक्तियो के सदृश ही प्राकृत भाषा मे

---

1 (क) सूत्रार्थयो परस्पर निर्योजन सम्बन्धन निर्युक्ति ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गा० ८३

(ख) निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्ति निर्युक्ति ॥

आचाराग नि० १/२/१

पद्यात्मक जो व्याख्याएँ लिखी गयी हैं वे भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुईं। भाष्य मे सर्वप्रथम पीठिका मे व्यवहार, व्यवहारी एव व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गयी है। व्यवहार मे दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ भेद, निमित्त, अध्ययन-विशेष तदर्ह परिषद् आदि का विवेचन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए अनेक दृष्टान्त भी दिये हैं। भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना, आदि पदो पर निक्षेप दृष्टि से विचार किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनो की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है।

पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण हैं। इनके क्रमश ४२, ८, २५, १२, १२ और ४ भेद होते हैं। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार हैं। जो तपार्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये हैं वे निर्गत हैं और जो विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य चार प्रकार के हैं—

(१) **उभयतर**—जो स्वय तप की साधना करता हुआ भी दूसरो की सेवा करता है। (२) **आत्मतर**—जो केवल तप ही कर सकता है। (३) **परतर**—जो केवल सेवा ही कर सकता है। (४) **अन्यतर**—जो तप और सेवा दोनो मे से एक समय मे एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना, आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नही होती। स्वय आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी इन गुणो से युक्त होता है। आलोचक भी जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, शान्त, दान्त, अमायी, अपश्चात्तापी इन दस गुणो से युक्त होता है। आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भाष्यकार ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

परिहार तप का वर्णन करते हुए सुभद्रा और मेघावती का उदाहरण दिया है। आरोपणा के प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना, हाडहडा, ये पाँच प्रकार बताये हैं। शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुन गच्छ मे सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तो का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाछन्द, कुशील, अवसन्न और ससक्त के स्वरूप पर विचार चर्चा की है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान ये तीन कारण हैं। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। क्षिप्तचित्तवाला मौन रहता है और दीप्तचित्तवाला बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है। भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि की योग्यता पर भी चिन्तन किया है। आचार्य और उपाध्याय के अतिशय बताये हैं जिनका श्रमणो

को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए—(१) उनके बाहर जाने पर पैरो को साफ करना। (२) उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना। (३) उनकी इच्छानुसार वैय्यावृत्य करना (४) उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना (५) उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

वर्षावास के लिए वह स्थान श्रेष्ठ माना गया है जहाँ पर अधिक कीचड न होता हो। द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक-भूमि हो, रहने योग्य दो-तीन बस्तियाँ हो, गो-रस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हो, वैद्य हो, औषधियाँ सरलता से प्राप्त हो, धान्य की प्रचुरता हो, राजा प्रजापालक हो, पाखण्डी कम हो, भिक्षा सुगम-रीति से प्राप्त होती हो, स्वाध्याय मे किसी भी प्रकार से विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्तो की अधिकता हो वहाँ पर नही रहना चाहिए, क्योकि काटने आदि का भय रहता है।

भाष्य मे आर्यरक्षित, आर्यकालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, किरातपुत्र, अवन्तीसुकुमाल, रोहिणेय, आर्यमगू आदि की अनेक कथाएँ आयी है। यह भाष्य अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण हैं।

भाष्य के पश्चात् टीका साहित्य लिखा गया है। टीका साहित्य की भाषा मुख्य रूप से सस्कृत है। उन टीकाओं मे आगमो का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि मे जिन विषयो पर चर्चाएँ की गयी हैं, टीका मे नये-नये हेतुओ द्वारा उन्हीं विषयो को और अधिक पुष्ट किया गया है।

टीकाकारो मे आचार्य मलयगिरि का स्थान मूर्धन्य है। उन्होने आगम ग्रन्थो पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी, जिनमे उनका गम्भीर पाडित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्राजलता, शैली का लालित्य और विश्लेषण की स्पष्टता आदि उनकी विशेषताएँ हैं। उनके द्वारा व्यवहार पर वृत्ति लिखी गयी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे प्राक्कथन के रूप मे पीठिका है जिसमे कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त प्रभृति विषयो पर चिन्तन किया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ मे अर्हद् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य तथा व्यवहार सूत्र के चूर्णिकार आदि को भक्तिभावना से विभोर होकर नमन किया है।

वृत्तिकार ने बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनो आगमो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कल्पाध्ययन मे प्रायश्चित्त का निरूपण है, किन्तु उसमे प्रायश्चित्त देने की विधि नही है जबकि व्यवहार मे प्रायश्चित्त देने की और आलोचना करने की ये दोनो प्रकार की विधियाँ हैं। यह बृहत्कल्प से व्यवहार की विशेषता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य तीनो का विश्लेषण करते हुए लिखा है—व्यवहारी कर्ता रूप है, व्यवहार करणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। करणरूपी व्यवहार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पाँच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पाँचो प्रकार

के व्यवहार को करण कहा है । भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है ।

जो स्वय व्यवहार के मर्म को जनता हो, अन्य व्यक्तियो को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है । जो गीतार्थ हैं उनके लिए व्यवहार का उपयोग है । प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त संग्रहण करने वाला दोनो गीतार्थ होने चाहिए । प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपणा और परिकु चना ये चार अर्थ है । प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं—१ आलोचना २ प्रतिक्रमण ३ तदुभय ४ विवेक ५ उत्सर्ग ६ तप ७ छेद ८ मूल ९ अनवस्थाप्य और १० पाराचिक । इन दसो प्रायश्चित्तो के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विवेचन किया गया है । यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारो की तुलना विनयपिटक[1] मे आये हुए प्रायश्चित्त विधि के साथ करें तो आश्चर्यजनक समानता मिलेगी । प्रायश्चित्त प्रदान करनेवाला अधिकारी या आचार्य बहुश्रुत व गम्भीर हो, यह आवश्यक है । प्रत्येक के सामने आलोचना का निषेध किया गया है । आलोचना और प्रायश्चित्त दोनो ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए जिससे कि वह गोपनीय रह सके ।

बौद्ध परम्परा मे साधु समुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है । विनयपिटक मे लिखा है—प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार मे एकत्रित हो । तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी सघ को बताया है । अत किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसहार मे यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है कि उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातो मे शुद्ध हैं ? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो सघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवाता है । द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है । सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढे जाते हैं । इसी तरह भिक्षुणियाँ भिक्खुनी पातिमोक्ख का वाचन करती है । यह सत्य है कि दोनो ही परम्पराओ की प्रायश्चित्त विधियाँ पृथक्-पृथक् हैं । पर दोनो मे मनोवैज्ञानिकता है । दोनो ही परम्पराओ मे प्रायश्चित्त करने वाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारो की सरलता अपेक्षित मानी है ।

प्रथम उद्देशक मे प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं । मूल गुण अतिचार प्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पांच प्रकार की है । उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है । उत्तरगुण, अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, सांकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप मे हैं । अपर शब्दो मे

---

1 विनयपिटक निदान

उत्तर गुणो के पिण्डविशुद्धि, पांच समिति, वाह्यतप, आभ्यन्तर तप, भिक्षु, प्रतिमा और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार है। मूलगुणातिचार प्रतिसेवना और उत्तर गुणातिचार प्रतिसेवना इनके भी दर्प्य और कल्प्य ये दो प्रकार है। विना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारणयुक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभापा मे सरल और सुवोध शैली मे आगमो के शब्दार्थ करने वाली सक्षिप्त टीकाएँ लिखी गई हैं जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती-राजस्थानी मिश्रित है। यह वालाववोध व टव्वा के नाम से विश्रुत हैं। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिह मुनि ने व्यवहार सूत्र पर भी टव्वा लिखा है। पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलक ऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद सहित व्यवहार सूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती मे अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ मे लिखा जिसको जैन साहित्य समिति, पूना से १९२३ मे प्रकाशित किया है।

पूज्य घासीलाल जी महाराज ने छेदसूत्रो का प्रकाशन केवल सस्कृत टीका के साथ करवाया है।

हिन्दी भाषा मे व्यवहार पर और अन्य छेदसूत्रो पर नवीन शैली से प्रकाशन अभी तक नही हुआ। पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल ने इस महान् कार्य की पूर्ति की है अत. वे साधुवाद के पात्र हैं।

६
सम्यग्दर्शन : एक तुलनात्मक चिन्तन

सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यग्दृष्टित्व शब्दो का प्रयोग समान अर्थ को लिये हुए है। विशेषावश्यकभाष्य मे[1] सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन इन शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ निर्दिष्ट हैं। सम्यक्त्व वह है, जिससे श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द का सामान्य अर्थ सत्यता व यथार्थता है। सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्व रुचि भी है। सत्य की अभीप्सा है। सत्य के प्रति जिज्ञासा वृत्ति या मुमुक्षुत्व ही सम्यग्दर्शन है। सत्य की चाह ऐसा तत्त्व है, जो साधक को साधना मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। जिस व्यक्ति को प्यास नही वह व्यक्ति पानी को प्राप्त करने का प्रयास नही करता, वैसे ही तत्त्व-रुचि या अभीप्सा से युक्त व्यक्ति ही साधना के महामार्ग पर आरूढ होता है।

जैन आगम साहित्य मे 'दर्शन' शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। जीव आदि पदार्थों के स्वरूप को जानना, देखना, उस पर निष्ठा करना दर्शन कहा[2] गया है।

सामान्य रूप से दर्शन देखने के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है, किन्तु यहाँ पर दर्शन शब्द का अर्थ केवल नेत्रजन्य बोध ही नही है, अपितु उसमे इन्द्रियबोध, मनबोध और आत्मबोध आदि सभी आ जाते हैं। जैन परम्परा मे दर्शन शब्द को लेकर चिन्तको मे परस्पर विवाद रहा है। दर्शन अन्तर्बोध है तो ज्ञान बौद्धिक है। नैतिक दृष्टि से दर्शन का अर्थ दृष्टिकोण है। दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग आगम साहित्य मे अनेक स्थलो पर हुआ है जो दृष्टिकोणपरक अर्थ को लिये हुए है। तत्त्वार्थ सूत्र[3] और उत्तराध्ययन[4] मे दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वश्रद्धा है। उसके बाद दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा, भक्ति के अर्थ मे भी आया है।[5] इस

---

1 विशेषावश्यकभाष्य।

2 अभिधान राजेन्द्र कोश, भा० ५, पृ० २४२५।

3 तत्त्वार्थ सूत्र १-२।

4 उत्तराध्ययन २८-३५।

5 आवश्यक सूत्र, सम्यक्त्व पाठ।

तरह सम्यग्दर्शन तत्त्वसाक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा तथा भक्ति आदि अर्थों को लिये हुए हैं ।

भगवान महावीर तथा तथागत बुद्ध के युग मे प्रत्येक धर्म प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यग्दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था । बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे बासठ मिथ्यादृष्टियो का वर्णन है और सूत्रकृताग आदि मे तीन सौ तिरसठ मिथ्यादृष्टियो का विवेचन है । यहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द अश्रद्धा और मिथ्या शब्द के अर्थ मे नही किन्तु गलत दृष्टिकोण के अर्थ मे है । जब यह प्रश्न उठा—गलत दृष्टिकोण क्या है तब कहा गया—आत्मा और जगत के सम्बन्ध मे जो गलत दृष्टिकोण है, वही मिथ्या दर्शन है । अत. प्रत्येक धर्मप्रवर्तक ने आत्मा और जगत का प्रतिपादन किया और अपने दृष्टिकोण पर विश्वास करने को सम्यग्दर्शन और दूसरो के दृष्टिकोण पर विश्वास करना मिथ्यादर्शन मान लिया है ।

इस तरह सम्यग्दर्शन तत्त्व श्रद्धान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ । किन्तु उसकी भावना मे परिवर्तन हो चुका था । उसमे श्रद्धा तत्त्वस्वरूप की मान्यता के सम्बन्ध मे थी । उसके पश्चात् श्रद्धा विशिष्ट व्यक्तियो के सम्बन्ध मे केन्द्रित हुई । भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से सम्यग्दर्शन का अर्थ है यथार्थ दृष्टिकोण । यथार्थ दृष्टिकोण प्रत्येक सामान्य व्यक्ति प्राप्त नही कर सकता । सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन है । पर जिन्होने अपनी अनुभूति से सत्य को जाना है और उसका जो स्वरूप बताया है उस यथार्थ दृष्टिकोण को स्वीकार करना सम्यग्दर्शन है । चाहे सम्यग्दर्शन को यथार्थ दृष्टि कहे या तत्त्वार्थ श्रद्धान उसमे कोई अन्तर नही है । अन्तर है उसको प्राप्त करने की विधि मे । एक वैज्ञानिक स्वय प्रयोगशाला मे बैठकर प्रयोग कर सत्य का उद्घाटन करता है । दूसरा व्यक्ति उस वैज्ञानिक के कथन पर विश्वास करके यथार्थ स्वरूप को जानता है । दोनो ही स्थितियो मे यथार्थ स्वरूप को जाना जाता है, पर विधि मे अन्तर होता है । एक ने स्वय की अनुभूति से सत्य का साक्षात्कार किया है तो दूसरे व्यक्ति ने श्रद्धा के द्वारा सत्य को जाना है । या तो स्वय साक्षात्कार करे या जिन मूर्धन्य मनीपियो ने तत्त्व को साक्षात्कार किया है उनकी बात को स्वीकार करे ।

जैन तत्त्व मनीषियो ने जैन आचार का आधार सम्यग्दर्शन को माना है । आचार्य देववाचक ने[1] सम्यग्दर्शन को सघ रूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ और गहन भू-पीठिका (आधार शिला) कहा है जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी श्रेष्ठ धन की पर्वतमाला स्थिर रही हुई है । जैन आचार शास्त्र की दृष्टि से सम्यग्दर्शन को मोक्ष को प्रवेश-पत्र कहा है क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नही होता और सम्यग्-ज्ञान के बिना आचरण मे निर्मलता नही आती और बिना आचरण की निर्मलता के कर्म नष्ट नही होते । और बिना कर्म नष्ट हुए निर्वाण प्राप्त नही होता ।[2]

---

1 नन्दी सूत्र १-१२ ।

2 उत्तराध्ययन २८-३० ।

सम्यग्दृष्टि साधक पाप का आचरण नही करता ।[1] क्योकि आचरण का सही और गलत होना व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। जो सम्यग्दृष्टि होता है उसका आचरण हमेशा नही होता है, सत् होता है और मिथ्यादृष्टि वाले का आचरण असत् होता है। इसीलिए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि कितना भी दान और पुरुपार्थ करे किन्तु यथार्थ दृष्टि के अभाव मे उसका वह पुरुपार्थ मुक्ति की ओर नही ले जाता। वह तो कर्म वन्धन के कारण होगे। मिथ्यादृष्टि का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध ही होगा। किन्तु सम्यग्दृष्टि मे फल की आकाक्षा न होने से उसका सभी पुरुषार्थ विशुद्ध होता है ।[2]

वैदिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन

वैदिक परम्परा मे भी सम्यग्दर्शन का विशिष्ट स्थान रहा है। आचार्य मनु ने[3] आचाराग की तरह ही कहा है—सम्यग्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति कर्म का वन्धन नही करता। जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन से रहित है वही व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता आदि मे 'सम्यग्दर्शन' शब्द नही मिलता। किन्तु सम्यग्दर्शन का जो पर्यायवाची शब्द श्रद्धा है[4] उसका विस्तार से विश्लेषण है। गीताकार ने कहा—कि वही ज्ञान का अधिकारी है जिसके जीवन मे श्रद्धा का आलोक है। जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होगी, जैसा जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण होगा, वैसा ही उसका जीवन बनता है।[5]

श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन के कुरुक्षेत्र से मैदान मे कहा[6] यदि कोई दुराचारी व्यक्ति है उसकी मुझ पर दृढ निष्ठा है और मुझे स्मरण करता है तो वह चिर शाति को प्राप्त कर सकता है।

आचार्य शकर ने सम्यग्दर्शन का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा[7] है—सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरुष ससार के वीज रूप अविद्या आदि दोषो का उन्मूलन अवश्य करता है और निर्वाण लाभ प्राप्त करता है।

तो स्पष्ट है, जव तक सम्यग्दर्शन नही होता वहाँ तक राग का उच्छेद नही होता और विना राग के उच्छेद के मुक्ति नही होती। जिस व्यक्ति की जैसे श्रद्धा होगी वैसा

---

1 आचाराग १।३।२ ।

2 सूत्रकृताग १-८-२२।२३ ।

3 मनुस्मृति ६-७४ ।

4 "श्रद्धावान् लभते ज्ञान" ।

5 गीता ।

6 गीता १७-३ ।

7 गीता भाष्य ६-३०/३१, १८-१२ ।

ही व्यक्ति का निर्माण होगा।[1] असम्यक् जीवन दृष्टि पतन का मार्ग है। तो सम्यक् जीवन दृष्टि उत्थान का मार्ग है।

यह सत्य है कि जैन दर्शन मे श्रद्धा का अर्थ तत्त्वश्रद्धा के अर्थ मे है तो गीता मे श्रद्धा ईश्वर के प्रति है। गीता का यह अभिमत है 'जीवन के विकास के लिए संशय रहित होना आवश्यक है। यदि मन मे श्रद्धा नही है तो चाहे आप कितना भी तर्क कीजिए, दान दीजिए या यज्ञ कीजिए, सभी निरर्थक है।[2] श्रद्धा के भी गीताकार ने तीन भेद किये है—सात्विक, राजस और तामस।[3] सात्विक श्रद्धा वह जिसमे सतोगुण प्रधान होता है। वह श्रद्धा देवताओ के प्रति होती है। राजस श्रद्धा मे रजोगुण की प्रधानता होती है, वह श्रद्धा यक्ष-राक्षसो प्रति होती है। तामस श्रद्धा मे तमोगुण की प्रधानता है। यह श्रद्धा भूत और प्रेतो की ओर होती है।

श्रीमद्भगवद् गीता मे श्रद्धा और भक्ति के विभिन्न आधार माने गये हैं। उस दृष्टि से श्रद्धा के चार प्रकार होते[4] हैं—

(१) जो श्रद्धा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात होती है, जो साधक परमात्म-तत्त्व का सही साक्षात्कार कर लेता है उस ज्ञान के आधार पर जो श्रद्धा उद्बुद्ध होती है वह ज्ञानी की श्रद्धा मानी जाती है। इसमे किसी भी प्रकार का सशय नही होता।

(२) द्वितीय श्रद्धा मे जिज्ञासा होती है, वह जिज्ञासा भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। इस श्रद्धा मे कभी-कभी सशय भी होता है, क्योकि वह जिज्ञासा पर आधृत है।

(३) तृतीय प्रकार की श्रद्धा वह है जिसमे कष्ट की प्रधानता होती है; सकटो से ग्रसित व्यक्ति सोचता है कि मुझे कोई शक्ति इन कष्टो से मुक्त कर दे। उसकी श्रद्धा मे दैन्यवृत्ति होती है।

(४) चतुर्थ श्रद्धा मे स्वार्थ भावना होती है। अपने आराध्य देव से कुछ प्राप्त हो इस दृष्टि से वह भक्ति करता है और श्रद्धा रखता है। वह सोचता है मुझे इस कार्य मे सफलता मिल जाय। उसकी श्रद्धा स्वार्थ पर आधृत होने से वास्तविक श्रद्धा नही होती। वह अभिनय तो वास्तविक श्रद्धा का करता है किन्तु उसमे वास्तविक श्रद्धा का अभाव होता है।

गीता मे श्रीकृष्ण ने भक्तो को यह आश्वासन[5] दिया है कि तुम मेरे पर पूर्ण

---

1 गीता १७-३।
2 गीता १७-१५।
3 वही० १७-२/४।
4 वही० ७-१६।
5 गीता १८/६५-६६।

निष्ठा रखो, तुम अपने जीवन की वागडोर मेरे को सँभला दो। मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा। पर, जैन और बौद्ध वाड्मय मे इस प्रकार का आश्वासन महावीर और वुद्ध ने कही पर भी नही दिया है।

जैन परम्परा मे सम्यग्दर्शन के अतिचार वताये है। उसमे सशय अतिचार है, तो गीताकार ने भी सशय को जीवन का दोप माना है।[1] फल-आकाक्षा को जैन दर्शन मे अतिचार माना है। साधक को एकान्त निर्जरा के लिए साधना करनी चाहिए। वैसे ही गीताकार ने भी फल की आकाक्षा से जो भक्ति करता है उसकी भक्ति श्रेष्ठ कोटि मे नही मानी है। वह भक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से हेय है। वह साधक को साधना के पथ पर आगे नही वढाती। जो साधक विवेक को विस्मृत होकर, भोगो के प्रति आसक्त होकर, परमात्म तत्त्व को विस्मृत होकर देवताओ की शरण को ग्रहण करते हैं, उन देवताओ की साधना-आराधना के द्वारा अपनी इच्छाओ की पूर्ति करना चाहते हैं वे देवताओ को प्राप्त होते हैं, पर मुझे वही प्राप्त होता है जिसकी मेरे पर गहरी निष्ठा होती है।[2]

इस तरह हम देखते है कि श्रद्धा के रूप मे सम्यग्दर्शन की व्याख्या गीता मे की गई है और उसे जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। गीता की श्रद्धा भी अनासक्त जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती है तो सम्यग्दर्शन मे भी वही विचारधारा है। तुलनात्मक दृष्टि से, समन्वय की भावना से चिन्तन करने पर वहुत कुछ समानता प्राप्त होती है।

●

---

1 गीता ४-४०।

2 गीता ७-२१/२३।

चिन्तन के विविध आयाम

द्वितीय खण्ड

संस्कृति - साहित्य - चिन्तन

१—सांस्कृतिक परम्परा : तुलनात्मक अध्ययन

२— कर्मयोगी श्री कृष्ण के आगामी भव : एक अनुचिन्तन

३—पट्टावली पर्यवेक्षण

४—जैन शासन-प्रभाविका अमर साधिकाएं

५—जैन मुनियो का साहित्यिक योगदान

६—राजस्थान के प्राकृत श्वेताम्बर—साहित्यकार

७—भारतीय साहित्य मे काव्य—मीमांसा

८—सन्त कवि आचार्य श्री जयमल जी महाराज

९—स्थानकवासी परम्परा के एक अध्यात्म-कवि श्री नेमीचन्दजी महाराज

१०—चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज

११—राष्ट्र का मेरुदण्ड : युवक

१

सांस्कृतिक परम्परा : तुलनात्मक अध्ययन

आध्यात्मिक विजय

जैन धर्म एक महान विजेता का धर्म है । सुनहरे अतीत का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि मानव सदा से ही विजेता का उपासक रहा है । विजेता के चरणो मे उसका सिर नत होता रहा है, उसकी वह अर्चना व अभ्यर्थना करता रहा है । 'इन्द्र' और 'जिन' ये दोनो ही विजेता रहे है, पर दोनो की विजय मे दिन-रात की तरह अन्तर है । इन्द्र ने अपनी भौतिक शक्ति से विरोधी शक्तियो को नष्ट कर दिया था जिससे कि वे पुन अपना सिर न उठा सकें और वह विजेता के गौरवपूर्ण पद को सदा अलकृत करता रहे । उसकी वह विजय भौतिक शक्तियो पर थी । उसने विरोधियो के अन्तर्मानस मे एक भयकर आतक पैदा किया था, उसकी विजय तन पर थी, मन पर नही, किन्तु जिन की विजय आध्यात्मिक थी, वह दूसरो पर नही अपने ही विकारो पर थी, वासना पर थी । उन्होंने मोह राजा की विराट् सेना को पराजित किया, क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के सेनापतियों को परास्त किया, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को नष्ट कर वे जिन बने, यह उनकी आध्यात्मिक विजय थी ।

इन्द्र और जिन

भारत की पावन पुण्य धरा पर दो प्रमुख सस्कृतियों ने जन्म लिया, वे यहाँ पर खूब फली-फूली और विकसित हुई हैं । उन दो सस्कृतियो मे एक इन्द्र की उपासना करती रही है तो दूसरी जिन की । इन्द्र की उपासना करने वाली सस्कृति ब्राह्मण सस्कृति है तो जिन की उपासना करने वाली सस्कृति श्रमण सस्कृति है । ब्राह्मण सस्कृति बाह्य विजेताओ की सस्कृति है । उसने बाह्य शक्ति की अभिवृद्धि के लिए अथक प्रयास किया है । उसकी सतत् यही भावना रही है[1] कि मैं सौ वर्ष

---

1 (क) ऋग्वेद ७।६—६।१६ ।
(ख) यजुर्वेद ३६।२४ ।
(ग) पश्येम शरद शतम् । जीवेम शरद शतम् ।
बुध्येम शरद शतम् । रोहेम शरद शतम् ।।

[क्रमश.]

तक अच्छी तरह से जीऊं। सौ वर्ष तक मेरी भुजाओ मे अपार वल रहे। सौ वर्ष तक मेरे पैरो मे अगद की तरह शक्ति रहे। सौ वर्ष तक मेरी नेत्र ज्योति पूर्ण निर्मल और तेजस्वी रहे। प्रभृति उद्गारो से यह स्पष्ट है कि उसका लक्ष्य तन को सुदृढ बनाने का था। भौतिक वैभव को प्राप्त करने का था। भौतिक वैभव को प्राप्त करने के लिए अहर्निश प्रवल प्रयास भी करते रहे।

किन्तु श्रमण सस्कृति आत्म-विजेता की सस्कृति है। उसने तन की अपेक्षा आत्मा को पुष्ट बनाने पर अत्यधिक वल दिया है। आत्मा किस तरह विकारो से मुक्त हो इसके लिए तप, जप और सयम साधना को अपनाने के लिए उत्प्रेरित किया। मोहनजोदडो और हडप्पा से प्राप्त ध्वसावशेषो ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि श्रमण सस्कृति के उपासक आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए सतत तत्पर रहे है। ध्यान मुद्रा मे अवस्थित उनकी वे मुद्राएँ इस वात का ज्वलत प्रमाण है।

ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या

भारतीय साहित्य के मूर्धन्य मनीपियो का यह अभिमत है कि उपनिषद् युग मे जिस ब्रह्मविद्या का विस्तार से विश्लेपण हुआ है वह ब्रह्मविद्या पहले यज्ञविद्या थी फिर आत्म-विद्या के रूप मे विश्रुत हुई। आत्म-विद्या के पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे जो श्रमण सस्कृति के उपासक थे। आत्म-विद्या को प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण भी क्षत्रियो के पास पहुँचे थे, और उन्होने उनसे आत्म-विद्या प्राप्त की थी।[1]

श्रमण सस्कृति ने आत्म-वल से ही ब्राह्मण सस्कृति पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई। वैदिक काल मे आत्मा, कर्म आदि की गम्भीर चर्चाएँ नही के समान है पर उपनिपद् युग मे उन विषयो पर चर्चाएँ जमकर हुई हैं। पहले ब्रह्म का अर्थ यज्ञ, उसके मत्र व स्तोत्र आदि थे पर श्रमण सस्कृति के प्रवल प्रभाव से ब्रह्म का अर्थ आत्मा व परमात्मा हो गया।

सस्कृतियो का परस्पर प्रभाव

ऐतिहासिक विज्ञो का यह मन्तव्य है कि प्राचीन उपनिपदो का रचना काल वही है जो भगवान पार्श्व और महावीर का है।[2] अत उस काल मे एक

[क्रमश]
पूपेम शरद शतम्। भवेम शरद शतम्।
भूषेम शरद शतम्। भूयसी शरद शतम्॥—अथर्व० १९।६७।१-८।

1 छान्दोग्य उपनिषद् ५।३, ५।११।

2 (क) देखिए—लेखक का 'भगवान पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन', पृष्ठ १८-१९।

[क्रमश]

सस्कृति का दूसरी सस्कृति पर प्रभाव पडा। एक दूसरे ने एक दूसरे की विचार-धारा को व शब्दो को ग्रहण किया। ब्राह्मण सस्कृति के उपासक अपने आप को आर्य मानते थे[1], और श्रमण सस्कृति के उपासको को आर्येतर मानते थे। श्रमण सस्कृति ने आर्य शब्द को अपनाया। जो ज्येष्ठ व श्रेष्ठ व्यक्ति थे उनके लिए 'आर्य' शब्द व्यवहृत होने लगा। आगम साहित्य मे अनेको स्थलो पर आर्य शब्द आया है। नन्दीसूत्र[2] व कल्पसूत्र[3] की स्थविरावली मे 'अज्ज' शब्द आचार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण शब्द पहले केवल वैदिक परम्परा के एक समुदाय विशेष के लिए ही प्रयुक्त होता था, पर श्रमण सस्कृति ने 'ब्राह्मण' शब्द को भी अपनाया। उत्तराध्ययन[4] के पच्चीसवें अध्ययन मे ब्राह्मण शब्द की विस्तार से व्याख्या की कि 'ब्राह्मण' वह है जिसका जीवन सद्‌गुणो से लहलहा रहा है जो उत्कृष्ट चारित्र सम्पन्न श्रमण है, वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण शब्द भी श्रमण सस्कृति मे श्रमण के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जैन सस्कृति की भाँति बौद्ध सस्कृति मे भी वह श्रमण के अर्थ मे आया है। धम्मपद[5] का ब्राह्मणवर्ग और सुत्तनिपात[6] का वामेट्ठसुत्त इस कथन के साक्ष्य हैं। ब्राह्मण साहित्य मे ब्रह्मचर्य का अर्थ वेदो के पठन के अर्थ मे रहा है। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम उसे कहा गया है। श्रमण परम्परा मे 'ब्रह्मचर्य' आचार के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध के अध्ययनो को इसीलिए ब्रह्मचर्य अध्ययन[7] कहा है और बौद्ध परम्परा मे वही ब्रह्मविहार के रूप मे विश्रुत रहा है। ब्रह्मचर्य से लौकिक आचार-विचार नही किन्तु आध्यात्मिक समुत्कर्प करने वाला आचार लिया है। ब्राह्मण सस्कृति मे पहले तीन ही आश्रम थे किन्तु श्रमण सस्कृति के प्रभाव से

[क्रमश]

(ख) दी वेदाज पृ. १४६-१४८, एफ० मेक्समूलर।

(ग) पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्सियन्ट इण्डिया, पृष्ठ ५२, एच सी रायचौधरी।

(घ) इण्डियन फिलोसफी, भाग १, पृ १४२, डा राधाकृष्णन्।

1 (क) शतपथ ब्राह्मण (काण्व शाखा ४।१।६)।

(ख) ऋग्वेद (१।५१, ६।२०।१, २५।१।२।

(ग) अथर्ववेद ४।२०।४, ८।

2 नन्दी, स्थविरावली २६-२९।

3 कल्पसूत्र-स्थविरावली, सूत्र २०२-२२२।

4 उत्तराध्ययन २५।१९-२९।

5 धम्मपद, ब्राह्मण वर्ग ३६।

6 सुत्तनिपात वासेट्ठसुत्त ३५; २४५ अध्याय।

7 (क) समवायाग प्रकीर्णक ९, सूत्र ३।

(ख) आचारागनिर्युक्ति, गाथा ११।

संन्यासाश्रम ने स्थान पाया और सन्यासियो की आचार सहिता भी जैन श्रमणो की भाँति ही मिलती-जुलती रखी गई। आत्मा, कर्म, व्रत आदि आध्यात्मिक विषयो को भी ब्राह्मण सस्कृति ने अच्छी तरह से अपनाया।

संस्कृतियों मे मतभेद

श्रमण और ब्राह्मण सस्कृति मे जहाँ पर अनेक बातो मे परस्पर समन्वय हुआ है, एक सस्कृति दूसरी सस्कृति से प्रभावित हुई है वहाँ पर दोनो ही सस्कृतियो मे अनेक बातो मे मतभेद भी रहा है। जैन सस्कृति न एकान्त रूप से ज्ञानप्रधान है, न एकान्त रूप से चारित्रप्रधान है उसने ज्ञान और क्रिया इन दोनो पर बल दिया है[1] जबकि ब्राह्मण सस्कृति मे 'ज्ञान' पर अत्यधिक बल दिया गया। उसका यह वज्र आघोष रहा '**ऋते ज्ञानान्नमुक्ति** ज्ञान के अभाव मे मुक्ति नही होती, न हि **ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते**[2] ज्ञान के समान कोई पवित्र नही है। यही कारण है कि ब्राह्मण सस्कृति के दिव्य आलोक मे पनपने वाले दर्शनो ने भी ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया और उसी से मोक्ष माना है।

न्यायदर्शन का अभिमत है कि कारण की निवृत्ति होने पर ही कार्य की निवृत्ति होती है। ससार का कारण मिथ्याज्ञान है। जब मिथ्याज्ञान रूप कारण नष्ट हो जाता है तब दु ख, जन्म, प्रवृत्ति दोष, प्रभृति कार्य भी स्वत नष्ट हो जाते हैं अत तत्वज्ञान ही दु खनिवृत्ति रूप मोक्ष का कारण है।

साख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रकृति और पुरुष का जहाँ तक विवेक ज्ञान नही होता वहाँ तक मुक्ति नही हो सकती। जब प्रकृति और पुरुष मे भेदविज्ञान होता है तब पुरुष स्वय को नि सग, निर्लेप, और पृथक मानने लगता है, यह विवेक ख्याति ही मोक्ष का कारण है।

वैशेषिक दर्शन का कहना है—इच्छा और द्वेष ही धर्म-अधर्म, सुख दु ख के कारण है। तत्वज्ञानी इच्छा और द्वेष से रहित होता है अत उसे सुख-दु ख की अनुभूति नही होती। वह अनागत कर्मों का निरुन्धन कर सचित कर्मों को ज्ञानाग्नि से विनष्ट कर मोक्ष प्राप्त करता है अत तत्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस तरह ज्ञान को प्रमुखता देकर चारित्र की उपेक्षा की गई, जिसके फलस्वरूप हम देखते हैं याज्ञवल्क्य ब्रह्मर्षि जैसे पहुँचे हुए ऋषिगण भी गायो के परिग्रह को परिग्रह मे नही गिनते। उनके मैत्रेयी और कात्यायनी ये दो पत्नियाँ हैं। सपत्ति के विभाजन की गभीर समस्या है।[3] अनेक ऋषियो के विराट् आश्रम हैं जहाँ सहस्राधिक गायें भी हैं। ज्ञान के क्षेत्र मे ऋषिगण जहाँ ऊँची उडानें भरते रहे हैं वहाँ आचरण के क्षेत्र मे

---

1 आहसु विज्जाचरण पमोक्ख—सूत्रकृताग १।१२।११।
2 श्रीमद्भागवद् गीता ४।३८।
3 बृहदारण्यकोपनिषद्।

उनके कदम कुछ शिथिल प्रतीत होते हैं। वैदिक परम्परा मे ही मीमासक दर्शन आदि की कुछ ऐसी विचारधारा भी रही है कि उन्होंने ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा भी की है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान की कोई आवश्यकता नही है, क्रिया की आवश्यकता है। बिना क्रिया के ज्ञान भार रूप है '**ज्ञानं भारः क्रिया विना**' अत वेदोक्त क्रियाकाण्ड विधि-विधान करते रहना चाहिए। जानना मुख्य नही है, आचरण मुख्य है।

ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष

जैन सस्कृति ने न केवल ज्ञान को महत्व दिया है और न केवल क्रिया को ही। उसका यह स्पष्ट अभिमत है कि ज्ञान के अभाव की केवल क्रिया थोथी है, निष्प्राण है, अधी है। विचाररहित कोरा आचरण भव-भ्रमण का कारण है, इसी तरह कोरा ज्ञान या विचार लगड़ा है, गतिहीन है, आध्यात्मिक प्रगति का बाधक है। जब तक ज्ञान और क्रिया, विचार और आचार दोनो पृथक्-पृथक् रहते हैं वहाँ तक अपूर्ण है। दोनो का समन्वय होने पर ही वे पूर्ण होते हैं। उच्च विचार के साथ उच्च आचार की भी आवश्यकता है। अनन्त गगन मे ऊँची उडान भरने के लिए पक्षी को स्वस्थ और अविकल दोनो पाँखें अपेक्षित हैं वैसे ही साधना के अनन्त आकाश मे आध्यात्मिक उडान भरने के लिए ज्ञान और क्रिया, आचार और विचार की स्वस्थ पाँखें परमावश्यक है। यदि एक ही पाँख स्वस्थ है और दूसरी पांख सड चुकी है, या नष्ट हो चुकी है, तो वह पक्षी अनन्त आकाश मे उड नही सकता, वह चाहे कितना भी प्रयास कर ले सफलता प्राप्त नही कर सकता। इसलिए उसने ज्ञान और क्रिया इन दोनो का समन्वय किया।

जैन सस्कृति ने जितना ज्ञान पर बल दिया है उतना ही चारित्र पर भी दिया है। यही कारण है कि जैन सस्कृति का श्रमण पूर्ण अपरिग्रही होता है। न उसके स्वय का कोई आवास होता है और न स्त्री आदि ही। स्त्री आदि के स्पर्श आदि का भी स्पष्ट रूप से निषेध है। वह कनक और काता दोनो का त्यागी होता है।

श्रमण और ब्राह्मण सस्कृति मे दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि श्रमण सस्कृति के प्रभाव से ब्राह्मण सस्कृति ने 'सन्यास' को तो स्वीकार किया पर सन्यास को वह उतनी प्रमुखता नही दे सका, जितनी गृहस्थाश्रम को दी। गृहस्थाश्रम सभी आश्रमो का मूल है। स्मृतिकारो ने उसे सर्वाधिक महत्व दिया है। उसे ही सब आश्रमो मे मुख्य माना। श्राद्ध आदि के लिए सन्तान आवश्यक मानी गई जबकि श्रमण सस्कृति मे श्रमण ही प्रमुख रहा। वही पूर्ण आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकता है। श्रमण सस्कृति ने किसी वर्ण विशेष को प्रमुखता नही दी। यद्यपि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय वर्ण मे ही हुए; पर क्षत्रिय वर्ण ही सर्वश्रेष्ठ है यह बात नही है। शूद्र भी यदि चारित्रनिष्ठ है तो वह क्षत्रियो के द्वारा पूज्य है, अर्चनीय है। हरिकेशी[1] और मेतार्य[2] इसके ज्वलत

---

1 उत्तराध्ययन १२वाँ अध्ययन।
2 आवश्यक मलयगिरिवृत्ति पत्र ४७७-४७८।

उदाहरण हैं। जाति-पाँति, भेद-भाव की दीवारो को तोडने मे श्रमण सम्कृति का प्रमुख हाथ रहा है। 'मनुष्य जाति एक है' एक ऊँचा और एक नीचा मानना मानवता का अपमान है।

ब्राह्मण सस्कृति मे ब्राह्मण की प्रमुखता रही है। वह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके सामने अन्य वर्ण हीन माने गये। शूद्रो को तो वेद पढने का अधिकार ही नही दिया गया।[1] यहाँ तक कि शूद्र के कान मे वेद की ऋचाएँ गिर जाती तो उनके कर्ण-कुहरो मे गर्मागर्म शीशा उडेल कर प्राणदण्ड दिया जाता था।[2] उनके साथ दानवतापूर्ण व्यवहार किया जाता। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का उन्हे कोई अधिकार नही था। इसी तरह ब्राह्मण सस्कृति ने महिला वर्ग को भी अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा। उनके लिए भी वेदो का अध्ययन निषिद्ध माना गया। जवकि जैन सस्कृति ने स्पष्ट उद्घोष किया कि महिलाएँ भी केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर सकती हैं और मुक्ति को वरण कर सकती हैं। इस तरह 'वसुधैव कुटुम्वकम्' 'विश्व भवत्येक नीडम्" का उद्घोष करके भी ब्राह्मण सस्कृति ने जाति-पाति, ऊँच-नीच की स्थिति समाज मे उत्पन्न की। ब्राह्मण वर्ण की ही महत्ता रही, और उसमे भी पुरुष वर्ग की ही।

निवृत्ति और प्रवृत्ति

श्रमण सस्कृति और ब्राह्मण सस्कृति मे मुख्य अन्तर यह भी रहा है कि श्रमण सस्कृति निवृत्तिप्रधान है, उसकी सम्पूर्ण आचार सहिता निवृत्तिपरक है। उसने मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को रोकने पर वल दिया। यहाँ तक कि कोई भी पापकारी कार्य न स्वय करना, न दूसरो को उस कार्य को करने के लिए उत्प्रेरित करना और न करने वाले का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काया से। इस तरह श्रमण के नव कोटि का प्रत्याख्यान होता है। उसकी प्रवृत्ति केवल सयम साधना, तप आराधना के लिए ही होती है, शेष कार्य के लिए नही। जवकि ब्राह्मण सस्कृति प्रवृत्ति-प्रधान है। यज्ञ, याग, कर्मकाण्ड उसके फलाफल की जो भी चर्चाएँ है वे सभी प्रवृत्ति की दृष्टि से ही हैं। श्रमण सस्कृति की जो भी धार्मिक साधनाएँ है वे सभी साधनाएँ व्यक्तिपरक है जवकि ब्राह्मण धर्म की साधनाएँ समाजपरक रही हैं। समाज को सलक्ष्य मे रखकर ही वहाँ साधनाएँ चली हैं। यह सत्य है कि श्रमण सस्कृति ने वाद मे चलकर समाज व्यवस्था अपनाई और सामूहिक साधना पर उसने भी वल दिया।

जनभाषा

श्रमण सम्कृति और ब्राह्मण सस्कृति मे यह भी एक मुख्य अन्तर रहा है कि

---

1 न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्।

2 वेदमुपशृण्वतस्तस्य जतुभ्या श्रोत्र प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद ।
—गौतम धर्मसूत्र पृ० १६५।

श्रमण सस्कृति ने जनभाषा का उपयोग किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य था कि भाषा एक दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम है। उसका उद्देश्य है अपने भीतर के जगत् को दूसरो के भीतरी जगत मे उतारना। यही भाषा की उपयोगिता है। भाषा वडप्पन का मापदण्ड नही है। अत महावीर ने अभिजात्य भाषा या पण्डितो की भाषा न अपना कर उस समय की जनभाषा प्राकृत को अपनाया। वह भाषा मगध के आधे भाग मे वोली जाती थी अत वह अर्धमागधी कहलाती थी।[1] अर्धमागधी उस समय की एक प्रतिष्ठित लोकभाषा थी। प्राकृत का अर्थ है--प्रकृति जनता की भाषा। इसी तरह तथागत बुद्ध ने भी जन वोली पाली को अपनाया था। पर ब्राह्मण सस्कृति ने जन-भाषा की उपेक्षा की, उसने सालकृत सस्कृत भाषा को अपनाया और उसी भाषा का प्रयोग करने मे वडप्पन का अनुभव किया। उन्होंने प्राकृत और पाली भाषा के विरोध मे भी अपना स्वर वुलन्द किया और कहा—ये भाषाएँ मूर्खों की भाषाएँ हैं, और कम पढी-लिखी स्त्रियो की भाषाएँ है। प्राचीन नाटको मे शूद्र और महिला पात्रो के मुँह से उन भाषाओ का प्रयोग कराकर ब्राह्मण विज्ञो ने उन भाषाओ के प्रति अपने हृदय का आक्रोश भी व्यक्त किया है। श्रमण सस्कृति मे 'देवाणुप्पिया' यह शब्द देवताओ के वल्लभ यानि अत्यन्त आदर का सूचक रहा है जवकि ब्राह्मण सस्कृति मे 'देवाना प्रिय' यह शब्द मूर्ख के लिए व्यवहृत हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है एक सस्कृति के अनुयायी दूसरी सस्कृति का विरोध करने मे अपना गौरव अनुभव करते रहे हैं।

सृष्टि अनादि है

श्रमण सस्कृति और ब्राह्मण सस्कृति मे एक मुख्य अन्तर यह भी रहा है कि श्रमण सस्कृति ने किसी एक परम तत्व की सत्ता को स्वीकार नही किया है, जो सृष्टि का निर्माण सरक्षण और सहार करती हो। श्रमण सस्कृति का यह दृढ मन्तव्य है कि यह सृष्टि अनादि है, इसका निर्माता कोई ईश्वर नही है। ससार, चक्र की भाँति अनादि काल से चल रहा है। व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करता है उसी प्रकार वह चार गतियो मे परिभ्रमण करता है। अशुभ कर्मो की प्रवलता होने पर उसे नरक गति की भयकर यातनाएँ मिलती हैं, शुभ कर्मो की प्रवलता होने पर स्वर्ग के रगीन सुख प्राप्त होते हैं और शुद्ध की प्रवलता होने पर मुक्त होता है। ससार चक्र मे मुक्त होने के लिए ही साधनाएँ है। साधना के लिए प्रवल पुरुषार्थ अपेक्षित है। साधक को ही सव कुछ करना है। ब्राह्मण सस्कृति ने एक परम सत्ता को स्वीकार किया है वही

---

1 (क) अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्म।

—औपपातिक सूत्र ५६

(ख) मगद्धविसय भासाणिवद्ध अद्धमागह, अट्ठारस देसी भासाणिमय वा अद्धमागह।

—निशीथचूर्णि

सृष्टि का निर्माण करती है, सृष्टि का सरक्षण और सहार करती है। वह सत्ता, ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के रूप मे विश्रुत है। यदि परमात्मा की कृपा हो जाये तो पापी से पापी जीव भी स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। उसकी प्रसन्नता से ही जीवन मे सुख-शान्ति की वशी वजने लगती है, आनन्द का सरसब्ज वाग लहराने लगता है। यदि भगवान किंचित् मात्र भी अप्रसन्न हो जाते है तो नरक की दारुण वेदनाए मिलती है। कष्टो की काली कजराली घटाए उमड-घुमड कर मडराने लगती हैं। वह चाहे जिसे तिरा सकता है और चाहे जिसे डुवा सकता है। तिराना और डुवाना उसी परम सत्ता के हाथ मे है। उसकी विना इच्छा के पेड का एक पत्ता भी हिल नही सकता।[1]

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं

श्रमण सस्कृति ने ईश्वर को जगत का कर्ता व सहर्ता नही माना है। पाश्चात्य चिन्तक जव तक श्रमण सस्कृति के सम्पर्क मे नही आये तव तक उनका यह मानना था कि विना ईश्वर के कोई भी धर्म नही हो सकता क्योकि इस्लाम, ईसाई, पारसी आदि भारतीयेतर धर्मों मे भी ईश्वर को प्रमुख स्थान दिया गया था, अत उन्हे अपनी मान्यताओ व परिभाषाओ मे परिवर्तन करना पडा। जैन धर्म ने सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर के स्थान पर कर्म की सस्थापना की। उसका अभिमत है कि अनादि काल से जो यह ससार चक्र चल रहा है वह कर्म के कारण है। कर्म के कारण ही सुख और दु ख उपलव्ध होता है। जव तक जीव के साथ कर्म है तव तक ससार है। भव-भ्रमण है। कर्म नष्ट होते ही ससार भी नष्ट हो जाता है। कर्म ही ससार की व्यवस्था करता है। जैन धर्म के प्रस्तुत कर्मवाद सिद्धान्त का भारतीय अन्य दर्शनो पर भी अत्यधिक प्रभाव पडा जिसके फलस्वरूप ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वाले उन दर्शनो ने भी कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होने यह कहा कि ईश्वर अपनी इच्छा से किसी भी प्राणी को सुख-दु ख प्रदान नही करता। वह तो उस प्राणी के कर्म के आधार से ही सुख-दु ख आदि फल प्रदान करता है। जैन सस्कृति ने कर्म की महत्ता को स्वीकार करके भी यह स्पष्ट किया कि आत्मा अपने पुरुषार्थ से कर्म को नष्ट कर सकता है। आत्मा अलग है और कर्म अलग है। कर्म जड है और आत्मा चेतन है, यो कर्म अत्यधिक वलवान है किन्तु आत्मा की शक्ति उससे वढकर है वह चाहे तो प्रवल प्रयास से कर्म शत्रुओ को नष्ट कर पूर्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वन सकता है।

जैनाचार की मूलभित्ति अहिंसा

जैन दृष्टि से जीव की दो स्थितियाँ हैं—एक अशुद्ध है और दूसरी शुद्ध है।

---

1 ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो ॥

—स्याद्वादमंजरी, पृष्ठ ३०।

ससार अवस्था अशुद्ध अवस्था है और सिद्ध अवस्था पूर्ण शुद्ध अवस्था है। ससार अवस्था मे कितने ही जीव बहिर्मुखी हैं जो राग-द्वेष मे तल्लीन होकर प्रतिपल-प्रतिक्षण नित-नूतन कर्म बाँधते रहते हैं। उन्हे विपय वासना मे राग-द्वेष मे आनन्द की अनुभूति होती है पर जब भेद-विज्ञान के द्वारा विवेक दृष्टि प्राप्त होती है तब उसे यह परिज्ञात होता है कि आत्मा और कर्म ये पृथक्-पृथक् हैं। मैं जड स्वरूप नही चेतन स्वरूप हूँ। मेरा स्वभाव वर्ण, गध, रस, युक्त नही अरूपी है। प्रस्तुत विश्वास ही जैन दर्शन की परिभापा मे सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर साधक विशुद्ध आध्यात्मिक साधना की ओर अग्रसर होता है। वह अहिंसा आदि महाव्रतो को धारण कर जीवन को चमकाता है। ब्राह्मण सस्कृति के मूर्धन्य मनीषीगण अपने सुख और शान्ति के लिए यज्ञ करते थे और उस यज्ञ मे बत्तीस लक्षण वाले मानवो की तथा पशुओ की बलि देते थे। भगवान महावीर ने उस घोर हिंसा का विरोध किया। अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या की।

ब्राह्मण परम्परा के तपस्वीगण पचाग्नि तप तपते थे। नदी, समुद्र, तालाब, कुण्ड व वाटिकाओ मे स्नान करने मे धर्म मानते थे। भगवान पार्श्व और महावीर ने उसका भी विरोध किया और कहा कि अग्नि और पानी मे जीव है[1] अत उनकी विराधना करने मे धर्म कदापि नही हो सकता। धर्म हिंसा मे नही, अहिंसा मे है। द्रव्य-शुचि प्रमुख नही, भाव-शुचि प्रमुख है। यदि स्नान से ही मुक्ति होती हो तो फिर मछलियाँ जो रात-दिन पानी मे ही रहती हैं उनकी मुक्ति हो जायेगी। ब्राह्मण परम्परा के ऋषियों ने कन्द-मूल आदि के आहार पर बल दिया।[2] जैन परम्परा ने उसे भी अहिंसा की दृष्टि से अनुचित माना। उन्होने कहा कन्द-मूल मे अनन्त जीव होते हैं। अनन्तकाय का उपयोग करना साधको के लिए अनुचित है।

आचाराग सूत्र मे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे भी जीव है इस बात को स्पष्ट किया है। अहिंसा का जो सूक्ष्म विश्लेपण हुआ है वह अपूर्व है। जैन आचार का भव्य प्रासाद अहिंसा की इसी मूल भित्ति पर अवस्थित है। जैन सस्कृति ने प्रत्येक क्रिया मे अहिंसा को स्थान दिया है। चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना प्रभृति जीवन सम्बन्धी कोई भी क्रिया क्यो न हो यदि उसमे अहिंसा का आलोक जगमगा रहा है तो वह क्रिया पाप का अनुबन्धन करने वाली नही होगी।[3] वाणी और व्यवहार मे सर्वत्र अहिंसा की उपयोगिता स्वीकार की गई है। श्रमण के

---

1 (क) आचाराग १।१।
(ख) दशवैकालिक ४ अध्ययन

2 औपपातिक सूत्र ३८, पृ १७०-१७१

3 जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भु जतो भासतो, पावकम्म न बधइ॥

—दशवैकालिक ४।८।

महाव्रत, समिति, गुप्ति, यतिधर्म, द्वादश अनुप्रेक्षाएँ, वाईस परीपह, पडावश्यक, चारित्र और तप आदि की जो भी साधनाएँ हैं उनमे अहिंसा का ही प्रमुख स्थान है। अहिंसा को केन्द्रविन्दु मानकर ही अन्य व्रतो का विकास हुआ।[1]

अहिंसा वाणी का विलास नहीं, जीवन का वास्तविक तथ्य है। वह तर्क का नही, व्यवहार का सिद्धान्त है, आचरण का मार्ग है। श्रमणाचार मे ही नही अपितु गृहस्थ के आचार मे भी अहिंसा ही प्रमुख है। उसके द्वादशव्रतो का आधार भी अहिंसा ही है। यह स्मरण रखना होगा कि अहिंसा की नहीं जाती वह फलित होती है। हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। हिंसा का निपेध केवल आचार मे ही नही विचार मे भी किया गया है। विचारगत हिंसा ही एकान्त दर्शन है और अहिसा अनेकान्त दर्शन है।

आत्मा सम्बन्धी दृष्टिकोण

ब्राह्मण परम्परा के किनने ही दार्शनिको का यह मन्तव्य था कि आत्मा व्यापक है। सम्पूर्ण विश्व मे केवल एक ही आत्मा है तो कितने ही दार्शनिक आत्मा को चावल के जितना, जौ के दाने के जितना और अगुष्ठ के जितना मानते रहे[2] तो कितने ही व्यापक मानते रहे[3] पर जैन सस्कृति का यह मन्तव्य है कि आत्मा शरीर परिमाण वाला है। यदि आत्मा को व्यापक माना जायेगा तो पुनर्जन्म आदि नही हो सकेगा। चूँकि व्यापक वस्तु मे गति सभव नही है। यदि जौ, तिल, और तन्दुल जितना ही आत्मा को माना जाय तो शरीर मे उतने ही स्थान पर कप्ट का अनुभव होना चाहिए। सम्पूर्ण शरीर मे नही, पर ऐसा होता नही है। सम्पूर्ण शरीर मे ही सुख और दु ख की अनुभूति होती है।

जैन सस्कृति का मानना है आत्मा एक गति से दूसरी गति मे जाता है। उस गमन मे धर्मास्तिकाय सहायक बनता है और अवस्थिति मे अधर्मास्तिकाय सहायक होता है। गति सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय कहलाता है और स्थिति सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय है। इन दोनो द्रव्यो की चर्चा जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन मे नही आई है। जीव का स्वभाव गमन करने का है। जब जीव कर्ममुक्त होता है उस समय उसकी गति ऊर्ध्व होती है। मिट्टी का लेप हटने से जैसे तुम्बा पानी के ऊपर आता है वैसे ही कर्म का लेप हटते ही जीव ऊर्ध्वगति करता है।

---

1 अहिंसा-गहणे पच महव्वयाणि गहियाणि भवति।

—दशवैकालिक चूर्णि प्र अ

2 (क) छान्दोग्योपनिपद् ३।१४।३
(ख) कठोपनिपद २।४।१२

3 (क) मुण्डकोपनिषद १।१।६
(ख) छान्दोग्योपनिपद ३।१४।३

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये केवल लोक मे ही है अत जीव लोकाग्रभाग पर अवस्थित हो जाता है। अलोक मे केवल आकाश ही है, अन्य कोई भी द्रव्य नही है। कर्मों की अधिकता के कारण ही जीव इस विराट् विश्व मे परिभ्रमण कर रहा है। कर्म आत्मा से पृथक है। ससार मे जो विविधता दृष्टिगोचर हो रही है उसका मूल कारण कर्म है। कर्म से ही पुनर्जन्म है। प्रवाह की दृष्टि से कर्म जीव के साथ अनादि-अनन्त काल से है। आयु पूर्ण होने पर गतिनामकर्म के अनुसार जीव चार गतियो मे से किसी एक गति मे जन्म ग्रहण करता है और एक शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर को धारण करता है। आनुपूर्वी नामकर्म के कारण वह जीव उस स्थान पर जाता है। गत्यन्तर के समय तेजस और कार्मण ये दो शरीर उसके साथ रहते हैं। वह जहाँ पर जन्म ग्रहण करता है वहाँ पर यदि वह मनुष्य और तिर्यंच बनता है तो औदारिक शरीर को धारण करता है और यदि नरक व देवगति मे जाता है तो वैक्रिय शरीर धारण करता है। कर्मबध के मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय व योग ये पाँच कारण हैं जिनसे कर्म वर्गणा के पुद्गल खिचे चले आते है। जितने कारण कम होते जायेंगे उतनी ही कर्मबधन मे शिथिलता आयेगी। मुक्त होने के लिए कर्मों के प्रवाह को रोकना होगा और पूर्वोपार्जित कर्मों को नष्ट करने के लिए साधना मे प्रबल पुरुषार्थ करना होगा। अन्य दार्शनिको का यह मन्तव्य है कि जीव और शरीर का सम्बन्ध होने पर भी जीव मे किसी भी प्रकार का विकार नही आता। जीव तो शाश्वत है। जो कुछ भी विकार दृग्गोचर होता है वह जीव सम्बन्धी अचेतन प्रकृति का है। ज्ञान आदि जितने भी गुण हैं वे जीव के नही, प्रकृति के हैं। पुरुष और प्रकृति मे भेदज्ञान होने से प्रकृति अलग हो जाती है। वही मोक्ष है अर्थात् ससार और मोक्ष ये जड तत्व के हैं और पुरुष मे आरोपित हैं, पुरुष तो अपरिणामी नित्य है। चार्वाक दर्शन का मन्तव्य है कि पाँच महाभूतो से जीव की उत्पत्ति होती है और उनके नष्ट हो जाने से मृत्यु होती है। अतः पुनर्जन्म और मोक्ष का कोई प्रश्न ही नही है। इस प्रकार प्रस्तुत दोनो विचारधारा के लिए जैन मनीषियो ने गहराई से चिन्तन किया है और अनेकान्त दृष्टि से उसका समाधान किया है कि द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। कर्मजन्य पर्याय को नष्टकर जीव मुक्त होता है। द्रव्य और पर्याय की मान्यता भी जैन दर्शन की अपनी मान्यता है। द्रव्य और पर्याय को क्रमश नित्य और अनित्य मान कर उसने ससारावस्था और मुक्तावस्था का समाधान किया है। जैन दर्शन ने आत्मा को शरीर प्रमाण माना है[1] जिससे पुनर्जन्म मे किसी भी प्रकार की बाधा नही आती और शरीरव्यापी होने से शरीर के प्रत्येक कण-कण मे उसे सुख व दुख की अनुभूति होती है।

---

1 स देह परिणामो—द्रव्यसंग्रह।

इस प्रकार दर्शन एव धर्म की सास्कृतिक परम्पराओ का पर्यवेक्षण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन मनीषियो ने अहिंसा, अनेकान्त, सर्वभूत समानता (अत्त समे मन्निज्ज छप्पिकाए) ईश्वरकर्तृत्व का अस्वीकार करके भी कर्म सिद्धान्त को जगत् व्यवस्था का नियन्ता तथा नैतिक जीवन का मूलाधार माना है। जीवन मे ज्ञान का महत्व स्वीकार किया है, ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है, किन्तु आचार की कतई उपेक्षा नही की है। वल्कि दोनो ज्ञान-क्रिया को जीवन-शरीर के दो चरण स्वीकार कर समान महत्व दिया है। अथवा चक्षु और चरण के रूप मे दोनो को ही अत्यावश्यक माना है। अत हम कह सकते हैं, भारतीय चिन्तन की सास्कृतिक धारा को जैन मनीषियो ने सतत् प्रवहमान और निर्मल निर्दोप रखने का प्रयत्न किया है।

२

कर्मयोगी श्रीकृष्ण के आगामी भव—एक अनुचिंतन

वासुदेव श्रीकृष्ण आगामी चौवीसी मे कौन से तीर्थंकर होंगे ? इसके सम्बन्ध मे आगम-साहित्य मे दो मान्यताएँ है। अन्तकृत्दशांग के अनुसार श्रीकृष्ण आगामी चौबीसी मे बारहवें 'अमम' नामक तीर्थंकर होगे।[1] समवायाङ्ग के अनुसार वासुदेव श्रीकृष्ण तेरहवें निष्कपाय नामक तीर्थंकर होगे।[2] मेरे सामने आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित समावायाङ्ग[3], पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी द्वारा सम्पादित समवायाङ्ग[4], पण्डित श्री दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित ठाणाङ्ग-समवायाङ्ग[5], सुत्तागमे[6], प० मुनि श्री कन्हैयालाल जी द्वारा सम्पादित समवायाङ्ग[7] आदि सभी समवायाङ्ग की प्रतियो मे वासुदेव (का जीव) तेरहवें निष्कपाय नामक तीर्थंकर होगे, यह स्पष्ट उल्लेख है। सत्यकी का जीव बारहवाँ अमम नामक तीर्थंकर होगा, यह लिखा है पर पूज्य श्री घासीलालजी म० सम्पादित समवायाङ्ग मे पाठ ही परिवर्तित कर दिया है। उन्होने वासुदेव का अमम बारहवे तीर्थंकर होना लिखा है और सत्यकी को तेरहवाँ सर्वभावित् नामक तीर्थंकर होना लिखा है।[8] पूज्य श्री न सम्भव है अन्तकृत्दशाग के पाठ से मेल बिठाने के लिए ही यह पाठ परिवर्तन किया हो, पर इस प्रकार आगमो के पाठो मे परिवर्तन करना अनुचित है, अस्तु।

श्रीकृष्ण के आगामी भवो के सम्बन्ध मे भी एकमत नही है। वासुदेव कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने भगवान श्री अरिष्टनेमि के अठारह हजार श्रमणो को एक साथ

---

1 अन्तकृत्दशाग, ५।१ पृ० २३० (आचार्य श्री आत्माराम जी म० द्वारा सम्पादित)
2 समवायाङ्ग (आगमोदय समिति), पृ० १५३
3 समवायाङ्ग अभयदेववृत्ति (आगमोदय समिति), पृ० १५३।
4 प्रथम सस्करण, पृ० ३२५।
5 पृ० ७२५, ७२६; प्रकाशक—गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, प्रथम सस्करण।
6 सुत्तागमे, प्रथम भाग, पृ० ३८१-३८२।
7 पृ० १५४।
8 समवायाङ्ग, पृ० ११२४, ११२७ (पूज्य श्री घासीलालजी द्वारा सम्पादित)।

विधियुक्त नमस्कार किया ।[1] भावो की विशुद्धि से उनको एक समय क्षायिक-सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई, जिननाम पुण्यवन्ध के दलिक उन्होने एकत्र किये ।[2]

अन्तकृत्दशाग के अनुसार श्रीकृष्ण के तीन भव होते हैं। एक भव कृष्ण का, दूसरा भव तृतीय पृथ्वी का और तीसरा भव वारहवाँ अमम नामक तीर्थंकर का है ।[3]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत अवसर्पिणी काल मे आयु, अवगाहना, गण, गणधर परिवार, एक दूसरे तीर्थंकर का अन्तर आदि सभी वातें जैसी अन्तिम तीर्थंकर की होती है वैसी ही उत्सर्पिणी काल मे प्रथम तीर्थंकर की होती है। जैसे गत चौवीसी मे पार्श्वनाथ का वर्णन था वैसे ही आगामी उत्सर्पिणी मे दूसरे तीर्थंकर सूरदेव का वर्णन होगा। अनुक्रम से गत चौवीसी के ऋषभदेव के वर्णन के

---

1 (क) द्वारकाधिपति कृष्ण-वासुदेवो महर्द्धिक ।
भक्त श्रीनेमिनाथस्य सद्धर्म श्रावकोऽभवत् ॥
अष्टादशसहस्राणि वदमानोऽन्यदामुनीन् ।
—काललोक प्रकाश, सर्ग ३४, श्लो० ५७-५८ ।

(ख) अन्यदा सर्वसाधूना द्वादशावर्तवन्दनम् ।
कृष्णो ददौ नृपास्त्वन्ये निर्वीर्यास्त्ववतस्थिरे ॥
—त्रिपष्टि०, ८।१०।२४० ।

2 (क) स वदनेन गुरुणा सम्यक्त्व क्षायिक दधौ ।
सत्यमक्षितियोग्यानि दु कृतान्यपवर्त्तयन् ॥
चक्रे तृतीयक्ष्मार्हाणि तीर्थकृन्नाम् चार्जयत् ।
तथोक्त-तित्थरयत्त सम्मत्त खाइय सत्तमीइ तइयाए
वदणएण विहिणा वद्ध च दसारसीहेण '
—काललोकप्रकाश, सर्ग ३४, श्लो० ५८, ६०, पृ० ६३४ ।

(ख) सर्वज्ञोऽप्यवदत् कृष्ण वह्वद्य भवतार्जितम् ।
पुण्य क्षायिकसम्यक्त्व तीर्थकृन्नाम कर्म च ।
उद्धृत्य सप्तमावन्यास्तृतीयनरकोचितम् ॥
—त्रिपष्टि०, ८।१०।२४३-२४४ ।

3 एव खलु तुम देवाणुप्पिया ! तच्चाओ पुढवीओ उज्जलियाओ अणतर उवट्टित्ता इहेव जम्बूदीवे भारहे वासे आगमेसाए उस्साप्पिणीए पुंडेसु जणवतेसु सयदुवारे वारसमे अममे नाम अरहा भविस्ससि तत्थ तुम वहूइ वासाइ केवलपरियायं पाउणित्ता सिज्झिहिसि ।
—अन्तकृत्दशाग, ५।१, पृ० २३०.

समान ही आगामी चौवीसी के चौवीसवे तीर्थंकर अनन्तविजय का वर्णन होगा ।[1] जव इस नियम के प्रकाश मे हम भगवान् अरिष्टनेमि से लेकर आगामी चौवीसी के वारहवें अमम नामक तीर्थंकर का अन्तर काल मिलाते हैं तो सत्रह सागरोपम के लगभग अन्तर काल होता है। तीन भव मानने पर सात सागर से कुछ अधिक समय होता है क्योकि तृतीय पृथ्वी मे श्रीकृष्ण सात सागर रहते हैं। तीन भव मानने से काल गणना फिट नही वैठती है ।

अन्तकृत्दशाग की तरह वसुदेवहिण्डी, कम्मपयडी-टीका, अममस्वामी-चरित्र, लोकप्रकाश[2] दीपावलीकल्प आदि मे श्रीकृष्ण के वारहवे अमम तीर्थंकर होने का उल्लेख है किन्तु उन ग्रन्थकारो ने अन्तकृत्दशाग की तरह तीन न मानकर पाँच भव माने है। उनके अभिमतानुसार श्रीकृष्ण का जीव तृतीय पृथ्वी से निकलकर शतद्वार नगर मे जितशत्रु राजा का पुत्र वनेगा। माडलिक राजा होकर चारित्र को स्वीकार करेगा। वहाँ पर वह तीर्थंकर नामकर्म का अनुवन्ध करेगा, वहाँ से आयु पूर्णकर पाँचवें ब्रह्मदेवलोक मे उत्पन्न होगा, जहाँ पर दस सागर की स्थिति भोगकर वहाँ से वह च्युत होकर अमम नाम का तीर्थंकर होगा ।[3]

पाँच भव मानने मे काल गणना भी ठीक वैठती है, क्योकि तृतीय पृथ्वी की सात सागर और पाँचवे ब्रह्मदेवलोक की दस सागर इस प्रकार सत्रह सागरोपम का कालप्रमाण होता है। आगामी चौवीसी के नौवे तीर्थंकर पोट्टिल का तीर्थकाल पौन पल्योपम न्यून तीन सागर है। दसवें (शतक) तीर्थंकर का तीर्थकाल चार सागर है।

---

1 स्थानाग-समवायाग, टिप्पणी, पृ० ७३४ ।

2 कृष्ण जीवोऽममाख्य स द्वादशो भविता जिन सुरासुरनराधीश प्रणतक्रमपकज ।
—काललोकप्रकाश, ३४।६१, पृ० ६३५ ।

3 (क) कन्हा तइयाए पुढवीए उवट्टित्ता इहेव भारहे वासे सयदुवारे नयरे जियसत्तुस्स रन्नोपुत्तताए उववज्जिऊण पत्तमण्डलि अभावो पव्वज्ज पडिवज्जिअ तित्थयरनाम-कम्म समुज्जणित्ता वभलोए कप्पे दससागरोवमाऊ होऊण तओ चुओ वारसमो अममो नाम अरहा भविस्ससि ।
—वसुदेवहिण्डी ।

(ख) निग्याओ नरभवमि देवो, होऊण पचमे कप्पे। —रत्नसचय।

(ग) क्षीण सप्तकस्य कृष्णस्य पचमे भवेऽपि मोक्षगमन श्रूयते उक्त च—
नरयाओ नरभवमि, देवो होउण पचमे कप्पे ।
तत्तो चुओ समाणो, वारसमो अममतित्थयरो ।।
—कम्मपयडी-टीका ।

(घ) गच्छत्यवश्य ते ऽघस्ता-त्व गामी वालुकाप्रभाम् ।
श्रुत्वेति कृष्ण सद्योपि नितातविधुरोऽभवत् ।। [क्रमश]

ग्यारहवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत सर्वविद् का तीर्थकाल नौ सागर है। अरिष्टनेमि से लेकर अन्य तीर्थंकरो का अन्तरकाल मिलाने पर सत्रह सागरोपम का काल पूर्ण रूप से बैठ जाता है।

अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्षायिक सम्यक्त्वी के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि यह अधिक से अधिक तीन भव करता है।[1] फिर पाँच भव मानने से प्रस्तुत विधान की सगति किस प्रकार बैठ सकती है ?[2]

विशेषावश्यकभाष्य मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने, कर्मग्रन्थ मे[3] देवेन्द्रसूरि

[क्रमश]

भूयोऽभ्यधत्त सर्वज्ञो मा विपीद जनार्दन,
तत उद्धृत्य मर्त्यस्त्व भावी वैमानिकस्तत ।
उत्सर्पिण्या प्रसर्पत्या शतद्वारपुरेशित ।
जितशत्रो सुतोऽर्हंस्त्व द्वादशो नामतोऽमम ॥

—काललोकप्रकाश, ३४।६३-६५ पृ० ६३६।

(ङ) जीवस्तु वासुदेवस्य तीर्थकृत्द्वादशोऽमम ।

—दीपावलीकल्प—जिनसुन्दर, श्लो०, ३३५, पृ० १३।

(च) वारसमो कण्हजीवो अममो।—दीआलिकप्प —श्री जिनप्रभसूरि, पृ० ६।

1 अणताणुवधिकोहमाणमायालोभे खवेइ। नव च कम्म न वधइ।
तप्पच्चइय च ण मिच्छत्तविसोहि काऊण दसणाराहए भवइ।
दसणविसोहीए य ण विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ।
विसोहीए य ण विसुद्धाए तच्च पुणो भवग्गहण नाइक्कमइ ॥

—उत्तराध्ययन, २६।५।

2 तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झति खइय सम्मत्ते ।
सुरनरयजुगसुगई इम तु जिणकालियनराण ॥

—विशेपावश्यकभाष्य, गा० १३१४।

3 अथ क्षीणसप्तको गत्यन्तर सक्रामन् कतितमे भवे मोक्ष मुपयाति ? उच्यते—तृतीये चतुर्थे वा। तथाहि यदि स्वर्गे नरके वा गच्छति तदा स्वर्गभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति, यदि चासौ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते तदाऽवश्यमसख्येयवर्पायुष्केष्वेव न सख्येयवर्षायुष्केषु ततस्तद् भवानन्तर देवभवं, तस्माच्च देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यभव ततोमोक्ष यातीति। चतुर्थभवे मोक्षगमन, उक्त च पचसग्रहे—

तइय चउत्थे तम्मि व भवम्मि सिज्झन्ति दंसणे खीणे।
ज देवणिरयसखाउचरमदेहेसु ते हुति ॥ गा० ७७६.

[क्रमश.]

ने और गुणस्थानक्रमारोह[1] की स्वोपज्ञवृत्ति मे रत्नशेखरसूरि ने लिखा है कि यदि पूर्वबध नही हुआ है तो क्षायिक सम्यक्त्वी को उसी भव मे मोक्ष होता है, यदि आयुष्य का पूर्वबध हो चुका है तो तृतीय भव मे मोक्ष होता है। प्रायोग्यबद्ध असख्यात वर्ष के आयुष्यवाले की चतुर्थभव मे मुक्ति होती है अर्थात् कोई जीव यौगलिक मे उत्पन्न हुआ है तो वह वहाँ से आयु पूर्णकर देवलोक मे ही जाता है इसलिए चार भव बतलाए हैं। क्योकि कहा भी है—मिथ्यात्व आदि सातो प्रकृतियो के क्षीण होने पर जो पूर्वबद्ध आयुष्यवाला है उसका तीन या चार भव मे मोक्ष होता है।

उत्तराध्ययन आदि आगमसाहित्य मे क्षायिक सम्यक्त्वी के उत्कृष्ट तीन भव बताये हैं। विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थो के अनुसार चार भव भी हो सकते है। वसुदेवहिण्डी, कर्मप्रकृति और कर्मग्रन्थ आदि के अनुसार कृष्ण के पाँच भव हैं और उन्हे क्षायिक सम्यक्त्व था। श्रीकृष्ण को क्षायिक सम्यक्त्व था ऐसा स्पष्ट उल्लेख आगम साहित्य मे कही पर भी मेरे देखने मे नही आया है किन्तु कर्म-ग्रन्थ, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि मे क्षायिक सम्यक्त्व का स्पष्ट उल्लेख है।

कितने ही लेखको ने कृष्ण को क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी माना है और उनके भवो के प्रश्न का सामाधान करने का प्रयास किया है, पर इसके लिए उन्होने किसी

[क्रमश.]

अथ तृतीयभवे मोक्षगमनेऽसख्येयवर्षायुष्केषूत्पत्तिस्तद्भवमोक्षगमन च चरमदेहत्वमिति क्रमेण योजनीयम्। इद च प्रायोवृत्त्योक्तमिति सभाव्यते यत क्षीणसप्तकस्य कृष्णस्य पचमे भवेऽपि मोक्षगमन श्रूयते। उक्त च—

नरयाउ नरभवम्मि देवो होऊण पचमे कप्पे।
तत्तो चुओ समाणो बारसमो अममतित्थयरो॥

इत्थमेव दु प्रसहादीनामपि क्षायिकसम्यक्त्वमागमोक्तं युज्यत इति यथागम विभावनीय।

—कर्मग्रन्थ, ५-६, पृ० ३५६, कर्मप्रकृति, उपशमनामप्रकरणम् पृ० २६।

1 यथाऽपूर्वकरणेनैव कृतत्रिपुञ्जस्य जीवस्य चतुर्थगुणस्थानादारभ्य क्षपकत्वे प्रारब्धेऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वरूपपुञ्जत्रयस्य च क्षये क्षायिक सम्यक्त्व भवति, ततोऽसौ क्षायिकी दृष्टिस्तु पुनरबद्धायुष्कस्य तु जीवस्य तृतीये भवे असख्यात जीविना प्रायोग्यबद्धायुष्कस्य चतुर्थे भवे मुक्तये स्यात् तथा चाह—

मिच्छाइखए खइओ, सो सत्ताणि खीणि ठाइ बद्धाऊ।
चउतिं भव भाविमुक्खो, तब्भवसिद्धि अ इअरो अ॥

गुणस्थान क्रमारोह, २२ वृत्ति, पृ० १६

भी प्राचीन ग्रन्थ के प्रमाण प्रस्तुत नही किये हैं अत उनकी बात केवल कल्पना पर ही आधृत है। आज के युग मे ऐसी बातें प्रामाणिक नही मानी जा सकती है।[1]

अब रहा प्रश्न समवायाग का। समवायाग के अनुसार श्रीकृष्ण तेरहवें निष्कपाय नामक तीर्थंकर होगे। इस बात को मानने पर भगवान् अरिष्टनेमि से लेकर निष्कपाय नामक तीर्थंकर का अन्तरकाल ४७ सागर का है और बारहवें अमम नामक तीर्थंकर का तीर्थकाल ३० सागर का है, इस प्रकार ४७ सागर का अन्तर होता है, इसके अनुसार श्रीकृष्ण के पाँच भव से भी अधिक भव मानने होगे।

कुछ आगमप्रेमी चिन्तको का यह कथन है कि अन्तकृत्दशाग मे बारहवें अमम नामक तीर्थंकर का उल्लेख है, वह पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा से है। जैसे १-२-३-४ इस प्रकार परिगणना करने से अमम बारहवें तीर्थंकर होते हैं और समवायाङ्ग मे जो वर्णन है वह पश्चानुपूर्वी की दृष्टि से है जैसे २४, २३, २२, २१ इस प्रकार परिगणना करने मे अमम तेरहवें तीर्थंकर होगे। यह गणना के प्रकार का ही अन्तर है किन्तु दोनो शास्त्रो के कथन मे विरोध नही है। परिगणना तो पश्चानुपूर्वी की दृष्टि से ही करनी चाहिए और अन्तर पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा से है।

उपर्युक्त कथन जो समन्वय की दृष्टि से कहा जाता है वह भी ठीक नही बैठता है क्योकि समवायाग मे वासुदेव श्रीकृष्ण का जीव जो तीर्थंकर होगा उसका नाम अमम न होकर तेरहवा तीर्थंकर निष्कपाय दिया है, जो पूर्वानुपूर्वी की दृष्टि से तेरहवें आते हैं और पश्चानुपूर्वी की दृष्टि से बारहवें आते हैं।

"भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण एक अनुशीलन" ग्रन्थ के परिशिष्ट विभाग मे मेरा विचार प्रस्तुत प्रश्न पर विचारचर्चा करने का था, पर मैं किसी निश्चित निर्णय पर न पहुँच सका एतदर्थ मैंने इस प्रश्न को छूआ नही। मेरी उक्त चर्चा का सार यही है कि गीतार्थ इस प्रश्न को सुलझाने के लिए प्रमाण पुरस्सर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करें।

---

1 स्थानकवासी जैन अहमदाबाद—पारस मुनिजी।

३

पट्टावली-पर्यवेक्षण

हमारा सुनहरा अतीत कितना उज्ज्वल है ! उस गम्भीर रहस्य को जानने की जिज्ञासा मानव-मन मे सदा ही अठखेलियाँ करती रही है । इसी जिज्ञासा से उत्प्रेरित होकर मानव ने उसे द्योतित करने के लिए समय-समय पर प्रयास किया है । उसी लडी की कडी मे प्रस्तुत ग्रन्थ भी है । इस ग्रन्थ मे विभिन्न भण्डारो की तह मे दबी हुई, इधर-उधर बिखरी हुई अस्त-व्यस्त पट्टावलियो को समुचित रूप से सकलित व सम्पादित कर प्रबुद्ध पाठको के समक्ष रखा गया है । वे पट्टावलियाँ अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं, अतीत की सुमधुर स्मृतियो को वर्तमान मे साकार करती हैं, पूर्वजो की गौरव-गाथाओ को प्रकट करती हैं और यथार्थ का चित्रण कर भावी गति-प्रगति की हिमगिरियो की गगनचुम्बी शिखरावलियो को छूने की प्रबल प्रेरणा देती है ।

जैन साहित्य मे पट्टावली-लेखन का युग चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी[1] से प्रारम्भ होता है । उन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय—कल्पसूत्र मे स्थविरावली का अंकन कर[2] गौरवमयी परम्परा का श्रीगणेश किया । उसके पश्चात्

---

1 (क) वंदामि भद्दबाहु,
पाईण चरिमसगलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसिं
दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

—दशाश्रुतस्कधनिर्युक्ति, गा० १ ।

(ख) पचकप्प महाभाष्य, गाथा १ से ११ तक ।

(ग) तेण भगवता आधारपकप्प-दस्त-कप्प-ववहाराय नवमपुव्वनी सदभूता निज्जूढा ।

—पचकल्प चूर्णी पत्र १ लिखित ।

2 लेखक ने अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्या मंदिर [क्रमश]

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने अनुयोगधरो की पट्टावली (स्थविरावली) अंकित की।[1] स्पष्ट है आगम साहित्य मे इन्ही आगमो मे स्थविरावलियाँ आई हैं। कल्पसूत्र मे स्थविरावली पट्टानुक्रम से है तो नन्दीसूत्र मे अनुयोगधरो की दृष्टि से है। पट्टानुक्रम (गुरु-शिष्य क्रम) से देवर्द्धिगणी का क्रम चौतीसवाँ और युगप्रधान (अनुयोगधर) के रूप में सत्ताईसवाँ है।[2]

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कल्पसूत्र की स्थविरावली भी एक समय मे और एक साथ नही लिखी गई है अपितु उसका सकलन भी आगम वाचना की तरह तीन बार हुआ है। प्रथम आर्य यशोभद्र तक स्थविरो की एक परम्परा निरूपित है जो पाटलीपुत्र की प्रथम वाचना के पूर्व की है। इस वाचना मे पूर्ववर्ती स्थविरो की नामावली सूत्र के साथ सकलित की गई है। उसके पश्चात् उसमे दो धाराएँ प्रकट हुई हैं। एक सक्षिप्त और दूसरी विस्तृत, जिनकी क्रमश परिसमाप्ति आर्य तापस और आर्य फग्गुमित्र (फल्गुमित्र) तक होती है, वे द्वितीय वाचना के समय सलग्न की गई हैं और उसके पश्चात् की स्थविरावली देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने अन्तिम वाचना मे गुम्फित की है। सक्षिप्त स्थविरावली मे मुख्यत प्रमुख स्थविरो का निर्देश है तो विस्तृत स्थविरावली मे मुख्य स्थविरो के अतिरिक्त उनके गुरु-भ्राता और उनसे विस्तृत गण-कुल प्रभृति शाखाओ का भी उल्लेख है।[3] जहाँ सक्षिप्त स्थविरावली मे आर्य वज्र के चार शिष्य निरूपित किये गये हैं।[4] वहाँ विस्तृत स्थविरावली मे तीन शिष्य बताये हैं। उनके नामो मे भी अन्तर है, प्रथम मे आर्य नागिल,

---

[क्रमश]
मे दशाश्रुतस्कध की प्राचीन एक हस्तलिखित प्रति देखी है जिसमे आठवें अध्ययन मे संपूर्ण कल्पसूत्र है। इस प्रति का उल्लेख श्री पुण्यविजयजी ने कल्पसूत्र की भूमिका मे किया है।

1 जे अन्ते भगवन्ते,
कालिअ सुय आणुओगिए धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा,
नाणस्स परूवण वोच्छ॥

—नन्दी स्थविरावली, गा० ४३

2 देखिए—पट्टावली पराग संग्रह, कल्याणविजय गणी, पृ० ५३।

3 देखिए—लेखक द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र-स्थविरावली-वर्णन।

4 थेरस्स ण अज्जवइरस्स गोयम गोत्तस्स अतेवासी चत्तारि थेरा—थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोमिले, थेरे अज्जजयत, थेरे अज्जतावसे।

—कल्पसूत्र, सू० २०६।

आर्य पढिमल, आर्य जयन्त और आर्य तापस हैं तो द्वितीय मे आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ।[1]

इस अन्तर का मूल कारण यह है कि श्रमण भगवान् महावीर के पश्चात् अनेक बार भारत भूमि मे दुष्काल पडे, जिसमे उत्तर भारत मे जो श्रमण सघ विचरण कर रहा था उसे विवश होकर समुद्र तटवर्ती प्रदेश की ओर बढना पडा, पर जो वृद्ध थे तथा शारीरिक दृष्टि से चलने मे असमर्थ थे वही पर विचरते रहे, जिससे श्रमण सघ दो भागो मे विभक्त हुआ। प्रथम दुष्काल की परिसमाप्ति पर वे सभी पुन. सम्मिलित हुए किन्तु सम्प्रति मौर्य के समय और आर्य वज्र के समय दुर्भिक्ष के कारण जो श्रमण सघ दक्षिण, मध्य भारत व पश्चिम भारत मे आया था वह दीर्घकाल तक उत्तर भारत मे विचरने वाले श्रमण सघ से न मिल सका, जिसके फलस्वरूप उत्तर मे विचरण करने वालो का पृथक् सघ स्थविर हुआ और दक्षिण तथा पश्चिम प्रान्त मे विचरण करने वालो का दूसरा स्थविर हुआ। इस कारण स्थविरावली मे नामो मे पृथकता आई है। दाक्षिणात्य श्रमण सघ १७० वर्ष तक अपनी स्वतन्त्र शासन पद्धति चलाता रहा, उसके पश्चात् विक्रम की द्वितीय शताब्दी के मध्य मे पुन वह उत्तरीय श्रमण सघ मे सम्मिलित हो गया।

यह पहले लिखा जा चुका है कि आगमो की तीन वाचनाएँ हुई।

प्रथम वाचना आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे मथुरा मे हुई थी और इस वाचना मे उत्तर प्रदेश और मध्य भारत मे विचरण करने वाले श्रमण ही एकत्र हुए थे। यह वाचना माथुरी वाचना के रूप से विश्रुत हुई।

दूसरी वाचना आर्य नागार्जुन के नेतृत्व मे दाक्षिणात्य प्रदेश मे विचरण करने वाले श्रमणो की वल्लभी मे हुई थी। पर दोनो वाचना मे एक दूसरे से, एक दूसरे नही मिले।

तीसरी वाचना मे दोनो ही वाचना के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। माथुरी वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी थे और वालभी वाचना के प्रतिनिधि कालकाचार्य थे। जिन पाठो के सम्बन्ध मे दोनो शका रहित थे वे पाठ एकमत से स्वीकार कर लिये गये और जिनमे मतभेद था, उन्हे उस रूप मे स्वीकार कर लिया गया।

माथुरी वाचना के अनुसार स्थविर-क्रम इस प्रकार है

१. सुधर्मा	२. जम्बू
३. प्रभव	४ शय्यम्भव

---

[1] थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोतम सगोत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तजहा—थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्ज पउमे, थेरे अज्जरहे।

—कल्प० स्थविरावली सू० २२१।

५ यशोभद्र
६ सम्भूतविजय
७ भद्रबाहु
८ स्थूलभद्र
९. महागिरि
१० सुहस्ती
११ वलिस्सह
१२ स्वाति
१३ श्यामार्य
१४ शाण्डिल्य
१५ समुद्र
१६ मगू
१७. नन्दिल
१८ नागहस्ती
१९ रेवति नक्षत्र
२० ब्रह्मद्वीपिकसिंह
२१ स्कन्दिलाचार्य
२२ हिमवन्त
२३ नागार्जुन वाचक
२४ भूतदिन्न
२५ लोहित्य
२६. दुष्यगणी
२७ देवर्द्धिगणी

वालभी वाचना के अनुसार स्थविर-क्रम इस प्रकार है

१ सुधर्मा
२ जम्बू
३ प्रभव
४ शय्यभव
५ यशोभद्र
६ सम्भूतविजय
७ भद्रबाहु
८ स्थूलभद्र
९ महागिरि
१० सुहस्ती
११ कालकाचार्य
१२ रेवतीमित्र
१३ आर्य समुद्र
१४ आर्य मगू
१५ आर्य धर्म
१६ भद्रगुप्त
१७ श्रीगुप्त
१८ आर्य वज्र
१९ आर्यरक्षित
२० पुष्पमित्र
२१ वज्रसेन
२२ नागहस्ती
२३ रेवतिमित्र
२४ ब्रह्मदीपिकसिंह सूरि
२५ नागार्जुन
२६ भूतदिन्न
२७ कालकाचार्य

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की गुरु परम्परा

१ सुधर्मा
२ जम्बू
३. प्रभव
४ शय्यभव
५ यशोभद्र
६ सभूतविजय-भद्रबाहु
७ स्थूलभद्र
८ महागिरि-सुहस्ती
९ सुस्थित सुप्रतिबुद्ध
१० आर्य इन्द्रदिन्न
११ आर्य दिन्न
१२ आर्य सिंहगिरि

१३ आर्य वज्र — १४ आर्य रथ
१५ आर्य पुष्पगिरि — १६. आर्य फल्गुमित्र
१७. आर्य धनगिरि — १८ आर्य शिवभूति
१९. आर्य भद्र — २०. आर्य नक्षत्र
२१ आर्य रक्ष — २२ आर्य नाग
२३ जेष्ठिल — २४ आर्य विष्णु
२५ आर्य कालक — २६. सपलित तथा आर्य भद्र
२७ आर्य वृद्ध — २८ आर्य सघपालित
२९ आर्य हस्ती — ३० आर्य धर्म
३१ आर्य सिंह — ३२. आर्य धर्म
३३ आर्य शाडिल्य — ३४ देवर्द्धिगणी

तात्पर्य यह है कि स्थविरावलियो मे पृथकता रही है इसलिए प्रबुद्ध पाठक "पट्टावली प्रवन्ध सग्रह" का पारायण करते समय एक ही विषय मे और एक ही व्यक्ति के सम्वन्ध मे विभिन्न पट्टावलियो मे विभिन्न मत देख कर भ्रमित न हो किन्तु समन्वय की दृष्टि से, तटस्थ बुद्धि से सत्य-तथ्य को समझने का प्रयास करें।

यह पूर्ण सत्य है कि श्रमण भगवान महावीर से देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक एक विशुद्ध परम्परा रही है। उसके पश्चात् चैत्यवासियो का प्रभुत्व जैन परम्परा पर छा जाने से परम्परा का गौरव अक्षुण्ण न रह सका। आचार्य अभयदेव ने उस स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है[1]—

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव परम्परा मानता हूँ। इसके पश्चात् शिथिलाचारियो ने अनेक द्रव्य परम्पराओ का प्रवर्तन किया और वे द्रव्य परम्पराएँ द्रौपदी के दुकूल की तरह निरन्तर बढती रही। धर्म के मौलिक तत्वो के नाम पर विकार, असगतियाँ और साम्प्रदायिक कलहमूलक धारणाएँ पनपती रही।

सोलहवी शती वैचारिक क्रान्तिकारियो का स्वर्ण युग है। इस काल मे भारत की प्रत्येक परम्परा मे अनेक क्रातिकारी नर-रत्न पैदा हुए जिन्होने क्राति की शख-ध्वनि से जन-जीवन को नवजागरण का दिव्य सदेश दिया। कबीर, धर्मदास, नानक, सत रविदास, तरणतारण स्वामी और वीर लोकाशाह ऐसे ही क्रातिकारी थे। यह

---

1 देवड्ढि खमासमणजा
परपर भावओ वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया,
दव्वेण परपरा बहुहा ॥

—आगम अट्ठतरी, गा. १४

स्वाभाविक था कि अप्रत्याशित और आकस्मिक क्रातिकारी विचारो से स्थितिपालक समाज मे हलचल पैदा हुई और परिणामस्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाएँ उभरीं, किन्तु वे उसे समाप्त नही कर सकी पर पूरी शक्ति के साथ पाशविकता से लडती रही। उसका आदर्श व्यक्ति न होकर गुण था, समष्टि न होकर सम्यग्दृष्टि थी। समीचीन तत्वो पर आधृत होने के कारण वह एक सुदृढ और सौन्दर्य सम्पन्न परम्परा निर्मित कर सकी जिस पर शताब्दियो से मानवता गर्व कर रही है।

श्री लोकाशाह तथा स्थानकवासी समाज के महापुरुष क्रियोद्धारक (१) श्री जीवराज जी महाराज, (२) श्री लवजी ऋषि जी म० (३) श्री धर्मसिंह जी महाराज (४) श्री धर्मदास जी म० और (५) श्री हरजी ऋषि जी म० किन-किन परिस्थितियो मे उठे, उभरे, उन्होने मानव-चेतना के किन निगूढ गह्वरो मे क्राति के स्वरो को मुखरित किया ? उनका कहाँ और कब, कितना और कैसा प्रभाव पडा ? क्या-क्या कार्य हुआ ? आदि की सक्षिप्त जानकारी संकलित पट्टावलियो की पक्तियो मे समुपलब्ध होगी। पाठक उन्ही के शब्दो मे रसास्वादन करें।

पट्टावलियो के अब तक अनेक सग्रह विविध स्थलो से प्रकाशित हुए हैं उनमे से कितने ही सग्रह अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। किन्तु उन सग्रहो मे लोकागच्छ की और स्थानकवासी परम्परा की विश्वस्त पट्टावलियाँ सामान्यत नही दी गई हैं। यदि कही पर दी भी गई हैं तो इतने विकृत रूप से दी गई हैं कि उनके असली रूप का पता लगाना ही कठिन है। इतिहासकार को इतिहास लिखते समय तटस्थ दृष्टि रखनी चाहिए। जो इतिहासकार इस नियम का उल्लघन करता है उसका इतिहास सत्य से परे हो जाता है। अभी कुछ समय पहले ऐसा एक ग्रन्थ "पट्टावली पराग सग्रह" नाम से देखने मे आया। इसके सम्पादक मुनिश्री कल्याणविजय जी अच्छे विद्वान और इतिहासवेत्ता है। हमे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि "पट्टावली पराग सग्रह" (पट्टावलियो का पराग) मे पट्टावली पराग के बदले निम्नस्तरीय आलोचना है। स्था० सम्प्रदाय के दो-तीन मुनियो के लिए तो नाम निर्देशपूर्वक आक्षेप किये हैं जो इतिहास-लेखन मे अवाछनीय है। इतिहास-लेखक इस प्रकार व्यक्तिगत आक्षेप से बच-कर तुलनात्मक समीक्षा तो कर सकता है, ऐसी आलोचना नही।

मुझे परम आह्लाद है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के सकलयिता व सम्पादक ने इतिहास-कार के मूल भाव की रक्षा की है। उन्होंने जो पट्टावलियाँ जहाँ से जिस रूप मे उपलब्ध हुई, उन्हे उसी रूप मे प्रकाशित की हैं, कही पर भी किसी सम्प्रदाय विशेष को श्रेष्ठ या कनिष्ठ बताने का प्रयास नही किया है।

इस प्रकार के पट्टावलियो के सग्रह की चिरकाल से प्रतीक्षा की जा रही थी, वह इस ग्रन्थ के द्वारा पूरी हो रही है। यो इसमे भी अभी तक सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज की पट्टावलियाँ नही आ पाई हैं। ज्ञात से भी अज्ञात अधिक है। मुझे आशा

ही नही, अपितु दृढ विश्वास है कि जैन इतिहास निर्माण समिति का सतत प्रयास इस दिशा मे चालू रहेगा और जहाँ से भी पट्टावलियाँ तथा प्रशस्तियाँ उपलब्ध होगी, उनका प्रकाशन होता रहेगा।

मैं ग्रन्थ का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ कि उन्होने माँ भारती के भव्य भण्डार मे ऐसी अनमोल कृति समर्पित की है। जैन इतिहास निर्माण समिति पण्डित प्रवर श्रद्धेय मुनिश्री हस्तीमल जी म० सा० से दिशा-निर्देश प्राप्त कर ऐसी और भी महत्वपूर्ण अन्वेषण प्रधान कृतियाँ समर्पित करेगी, ऐसी आशा है।

(पट्टावली प्रवन्ध सग्रह—प्रस्तावना)

४

जैन शासन-प्रभाविका अमर साध्विकाएँ

भगवान महावीर ने केवलज्ञान होने के पश्चात् चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। साधुओ मे गणधर गौतम प्रमुख थे तो साध्वियों मे चन्दनबाला मुख्य थीं। किन्तु उनके पश्चात् कौन प्रमुख साध्वियाँ हुई, इस सम्बन्ध मे इतिहास मौन है। यो आर्या चन्दनबाला के पश्चात् आर्या सुव्रता, आर्या धर्मी, आर्य जम्बू की पद्मावती, कमलभाल, विजयश्री, जयश्री, कमलावती, सुसेणा, वीरमती, अजयसेना इन आठ सासुओ के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है और जम्बू की समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री, जयश्री, इन आठ पत्नियो के भी आर्हती दीक्षा लेने का वर्णन है। वीर निर्वाण स० २० मे अवन्ती के राजा पालक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अवन्तीवर्धन को राज्य तथा लघु पुत्र राष्ट्रवर्धन को युवराज पद पर आसीन कर स्वय ने आर्य सुधर्मा के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। राष्ट्रवर्धन की पत्नी का नाम धारिणी था। धारिणी के दिव्य रूप पर अवन्तीवर्धन मुग्ध हो गया। अत धारिणी अर्धरात्रि मे ही पुत्र और पति को छोडकर अपने शील की रक्षा हेतु महल का परित्याग कर चल दी और कौशाबी की यानशाला मे ठहरी हुई साध्वियो के पास पहुँची। उसे ससार से विरक्ति हो चुकी थी। वह सगर्भा थी। किन्तु उसने यह रहस्य साध्वियो को न बताकर साध्वी बनी। कुछ समय के पश्चात् गर्भसूचक स्पष्ट चिन्हो को देखकर साध्वी प्रमुखा ने पूछा तब उसने सही स्थिति बतायी। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया और रात्रि के गहन अधकार मे नवजात शिशु को उसके पिता के आभूषणो के साथ कोशाबी नरेश के राजप्रासाद मे रख दिया। राजा ने उस शिशु को ले लिया और उसका नाम मणिप्रभ रखा, और पुन धारिणी प्रायश्चित्त ले आत्मशुद्धि के पथ पर बढ गयी। अवन्तीवर्धन को भी जब धारिणी न मिली तो अपने भाई की हत्या से उसे भी विरक्ति हुई। और धारिणी के पुत्र अवन्तीसेन को राज्य दे उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। जब मणिप्रभ और अवन्तीसेन ये दोनो भाई युद्ध के मैदान मे पहुँचे तब साध्वी धारिणी ने दोनो भाइयो को सत्य तथ्य बताकर युद्ध का निवारण किया।

वीरनिर्वाण की दूसरी-तीसरी सदी मे महामन्त्री शकडाल की पुत्रियाँ और

आर्य स्थूलभद्र की बहनें यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा इन सातो ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। वे अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न थी। क्रमश एक बार, दो बार यावत् सात बार सुनकर वे कठिन से कठिन विपयो को भी याद कर लेती थी। उन्होने अन्तिम नन्द की राजसभा मे अपनी अद्‌भुत स्मरण शक्ति के चमत्कार से वररुचि जैसे मूर्धन्य विज्ञ के अह को नष्ट किया था। सातो वहिनो के तथा भाई स्थूलभद्र के प्रव्रजित होने के पश्चात् उनके लघु भ्राता श्रीयक ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की जो अत्यन्त सुकोमल प्रकृति के थे। भूख और प्यास को सहन करने मे अक्षम थे। साध्वी यक्षा की प्रवल प्रेरणा से श्रीयक ने उपवास किया और उसका रात्रि मे प्राणान्त हो गया जिससे यक्षा ने मुनि की मृत्यु का कारण अपने आपको माना। दु ख, पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से अपने आपको दु खी अनुभव करने लगी। कई दिनो तक अन्न-जल ग्रहण नही किया। सघ के अत्यधिक आग्रह पर उसने कहा कि केवलज्ञानी मुझे कह दें कि मैं निर्दोष हूँ तो अन्न-जल ग्रहण करूँगी, अन्यथा नही। संघ ने शासनाधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी की सहायता से आर्या यक्षा महाविदेह क्षेत्र मे भगवान श्री सीमान्धरस्वामी की सेवा मे पहुँची। भगवान ने उसे निर्दोप वताया और चार अध्ययन प्रदान किये। देवी की सहायता से वह पुनः लौट आयी। उन्होने चारो अध्ययन सघ के समक्ष प्रस्तुत किये जो आज चूलिकाओ के रूप मे विद्यमान है। इन सभी साध्वियो का साध्वी सघ मे विशिष्ट स्थान था पर ये प्रवर्तिनी आदि पद पर रही या नही इस सम्वन्ध मे स्पष्ट उल्लेख नही है।

इनके पश्चात् कौन साध्वियाँ उनके पट्ट पर आसीन हुई यह जानकारी प्राप्त नही होती है। वाचनाचार्य आर्य वलिस्सह के समय हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार विदुपी आर्या पोइणी तथा अन्य तीनसौ साध्वियाँ विद्यमान थी। कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल द्वारा वीर निर्वाण चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण मे कुमारगिरि पर आगम परिपद हुई थी, जिसमे वाचनाचार्य आर्य वलिस्सह और गणाचार्य सुस्थित सुप्रतिवद्ध की परम्पराओ के पाँच सौ श्रमण उपस्थित हुए थे। वहाँ आर्या पोइणी भी तीनसौ श्रमणियो के साथ उपस्थित हुई थी। इससे स्पष्ट है कि आर्या पोइणी महान प्रतिभाशाली और आगम रहस्य को जानने वाली थी। उनके कुल, वय, दीक्षा, शिक्षा, साधना सम्वन्धी अन्य परिचय प्राप्त नही है। हिमवन्त स्थविरावली से स्पष्ट है कि पोइणी का चतुर्विध सघ मे गौरवपूर्ण स्थान था।

वीरनिर्वाण की पाँचवी शती मे द्वितीय कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती थी। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। राजकुमार कालक का अपनी वहन सरस्वती पर अपार स्नेह था। गुणाकर मुनि के उपदेश से दोनो ने जैन दीक्षा ग्रहण की। एक वार आर्य कालक के दर्शन हेतु साध्वी सरस्वती उज्जयिनी पहुँची। राजा गर्दभिल्ल ने उसके अनुपम लावण्य को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने अपने राजपुरुषो द्वारा साध्वी सरस्वती का अपहरण

करवाया। आर्य कलक को गर्दभिल्ल के घोर अनाचार का पता लगा। राजा को समझाने का प्रयास किया, किन्तु राजा न समझा। अत आर्य कालक ने शको की सहायता प्राप्त की एव अपने भानजे भडौंच के राजा भानुमित्र को लेकर युद्ध किया, साध्वी सरस्वती को मुक्त करवाया और पुन अपनी वहन सरस्वती को दीक्षा प्रदान की। साध्वी सरस्वती अनेक कष्टो का सामना करके भी अपने पथ से च्युत नही हुई।

वीरनिर्वाण की पांचवी शती मे आर्य वज्र की माता सुनन्दा-ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। उन्होने किस श्रमणी के पास श्रमणधर्म स्वीकार किया इसके नाम का उल्लेख कही नही मिलता है। यह सत्य है कि उस युग मे साध्वियो का विराट समुदाय होगा, क्योकि वालक वज्र ने साध्वियो से ही सुनकर एकादश अगो का अध्ययन किया था।

वीरनिर्वाण की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे साध्वी रुक्मिणी का वर्णन मिलता है। वह पाटलीपुत्र के कोट्याधीश श्रेष्ठी धन की एकलौती पुत्री थी। आर्य वज्र के अनुपम रूप को निहार कर मुग्ध हो गयी। उसने अपने हृदय की वात पिता से कही। वह एक अरव मुद्राएँ तथा दिव्य वस्त्राभूषणो को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुँचा। किन्तु रुक्मिणी ने वज्रस्वामी के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण की। और रुक्मिणी तथा वज्रस्वामी के अपूर्व त्याग को देखकर सभी का सिर श्रद्धा से नत हो गया।

वीरनिर्वाण की पाँचवी-छठी शती मे एक विदेशी महिला के द्वारा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषावश्यकभाष्य तथा निशीथचूर्णि मे वर्णन है कि मुरुण्डराज की विधवा वहिन प्रव्रज्या लेना चाहती थी। मुरुण्डराज ने साध्वियो की परीक्षा लेने हेतु एक आयोजन किया कि कौन साध्वी कैसी है। एक भीमकाय हाथी पर महावत बैठ गया और चौराहे पर वह खडा हो गया। जव कोई भी साध्वी उधर से निकलती तव महावत हाथी को साध्वी की ओर बढाते हुए साध्वी को चेतावनी देता कि सभी वस्त्रो का परित्याग कर निर्वसना हो जाय, नही तो यह हाथी तुम्हे अपने पाँवो से कुचल डालेगा। अनेक साध्वियाँ, परिव्राजिकाएँ, भिक्षुणियाँ उधर निकली। भयभीत होकर उन्होने वस्त्र का परित्याग किया। अन्त मे एक जैन श्रमणी उधर आयी। हाथी ज्यो ही उसकी ओर वढने लगा त्यो ही उसने क्रमशः अपने धर्मोपकरण उधर फेंक दिये, उसके पश्चात् साध्वी हाथी के इधर-उधर घूमने लगी। किन्तु उसने अपना वस्त्र-त्याग नही किया। जव जनसमूह ने यह दृश्य देखा तो उनका आक्रोश उभर आया। मुरुण्डराज ने भी सकेत कर हाथी को हस्तीशाला मे भिजवाया और उसी साध्वी के पास अपनी वहिन को प्रव्रजित कराया। साहस, सहनशीलता, शान्ति और साधना की प्रतिमूर्ति उस साध्वी का तथा मुरुण्ड राजकुमारी इन दोनो का नाम क्या था, यह ज्ञात नही है।

वीरनिर्वाण की छठी शती मे आर्यरक्षित की माता साध्वी रुद्रसोमा का नाम

भी भुलाया नही जा सकता जिसने अपने प्यारे पुत्र को जो गम्भीर अध्ययन कर लौटा था, उसे पूर्वों का अध्ययन करने हेतु आचार्य तोसलीपुत्र के पास प्रेषित किया और सार्द्ध नौ पूर्व का आर्यरक्षित ने अध्ययन किया। रुद्रसोमा की प्रेरणा से ही राज पुरोहित सोमदेव तथा उसके परिवार के अनेको व्यक्तियो ने आर्हती दीक्षा स्वीकार की और स्वय उसने भी। उसका यशस्वी जीवन इतिहास की अनमोल सम्पदा है।

वीरनिर्वाण की छठी शती के अन्तिम दशक मे साध्वी ईश्वरी का नाम आता है। भीषण दुष्काल से छटपटाते हुए सोपारकनगर का ईभ्य श्रेष्ठी जिनदत्त था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। बहुत प्रयत्न करने पर भी अन्न प्राप्त नही हुआ, अन्त मे एक लाख मुद्रा से अजली भर अन्न प्राप्त किया। उसमे विष मिलाकर सभी ने मरने का निश्चय किया। उस समय मुनि भिक्षा के लिए आये। ईश्वरी मुनि को देखकर अत्यन्त आह्लादित हुई। आर्य वज्रसेन ने ईश्वरी को बताया कि विष मिलाने की आवश्यकता नही है। कल से सुकाल होगा। उसी रात्रि मे अन्न के जहाज आ गये जिससे सभी के जीवन मे सुख-शान्ति की बशी बजने लगी। ईश्वरी की प्रेरणा से सेठ जिनदत्त ने अपने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर इन चारो पुत्रो के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की। और उनके नामो से गच्छ और कुल परम्परा प्रारम्भ हुई। साध्वी ईश्वरी ने भी उत्कृष्ट साधना कर अपने जीवन को चमकाया।

इसके पश्चात् भी अनेक साध्वियाँ हुईं, किन्तु क्रमबार उनका उल्लेख या परिचय नही मिलता, जिन्होने अपनी आत्म ऊर्जा, बौद्धिक चातुर्य, नीति-कौशल एव प्रखर प्रतिभा से जैन शासन की महनीय सेवा की। मैं यह मानता हूँ कि ऐसी अनेक दिव्य प्रतिभाओ ने जन्म लिया है, किन्तु उनके कर्तृत्व का सही मूल्याकन नही हो सका।

हम यहाँ अठारहवी सदी की एक तेजस्वी स्थानकवासी साध्वी का परिचय दे रहे हैं जिनका जन्म देहली मे हुआ था। उनके माता-पिता का नाम ज्ञात नही है और उनका सासारिक नाम भी क्या था यह भी पता नही है। पर उन्होने आचार्यश्री अमरसिहजी महाराज के समुदाय मे किसी साध्वी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। ये महान प्रतिभासम्पन्न थी। इनका श्रमणी जीवन का नाम महासती भागाजी था। इनके द्वारा लिखे हुए अनेको शास्त्र, रास तथा अन्य ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार, जोधपुर मे तथा अन्यत्र सग्रहीत हैं। लिपि उतनी सुन्दर नही है, पर प्राय शुद्ध है। और लिपि को देखकर ऐसा ज्ञात होता है लेखिका ने सैकडो ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ की होगी। आचार्यश्री अमरसिहजी महाराज के नेतृत्व मे पचेवर ग्राम मे जो सन्त सम्मेलन हुआ था उसमे उन्होंने भी भाग लिया था। और जो प्रस्ताव पारित हुए उनमे उनके हस्ताक्षर भी है।

अनश्रुति है कि उन्हे बत्तीस आगम कण्ठस्थ थे। एक बार वे देहली मे विराज रही थी। शौच के लिए वे अपनी शिष्याओ के साथ जगल मे पधारी। वहाँ से लौटने

के पश्चात् रास्ते मे एक उपवन था उसमे एक वहुत रमणीय स्थान था जो एकान्त था वहाँ पर वैठकर महासती जी स्वाध्याय करने लगी। स्वाध्याय चल रही थी, इधर वृहद् नौ तत्व के रचयिता श्रावक दलपतसिहजी उधर आ निकले। उन्होने देखा कि उपवन के वृक्षो के पत्ते दनादन गिर रहे हैं। फूल मुरझा रहे हैं। असमय मे पतझड को आया हुआ देखकर उन्होने सोचा इसका क्या कारण है ? इधर-उधर देखा तो उन्हे महासती जी एकान्त मे वैठी हुई दिखायी दी। श्रावकजी उनकी सेवा मे पहुचे। नमन कर उन्होने महासती से पूछा—आप क्या कर रही है ? महासती ने वताया कि मैं स्वाध्याय कर रही हूँ। इस समय चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति की स्वाध्याय चल रही है। श्रावकजी ने नम्रता से निवेदन किया—सद्गुरुणीजी, देखिए कि वृक्ष के पत्ते असमय मे गिर रहे हैं, फूल मुरझा रहे हैं। लगता है स्वाध्याय करते समय कही असावधानी से स्खलना हो गई है। कृपाकर आपश्री पुन स्वाध्याय करें। लाला दलपतसिह जी भी आगम के मर्मज्ञ विद्वान थे। स्वाध्याय की गयी। जहाँ पर स्खलना हुई थी श्रावकजी ने उन्हे वताया। स्खलना का परिष्कार करने पर वृक्षो के पत्ते गिरने वन्द हो गये और फूल मुस्कराने लगे।

महासतीजी का विहार क्षेत्र दिल्ली, पजाव, जयपुर, जोधपुर, मेडता और उदयपुर रहा है—ऐसा प्रशस्तियो के आधार से ज्ञात होता है। महासती भागाजी की अनेक विदुषी शिष्याएँ थी। उनमे वीराजी प्रमुख थी। वे भी आगमो के रहस्यो की ज्ञाता और चारित्रनिष्ठा थी। उनकी जन्मस्थली आदि के सम्वन्ध मे सामग्री प्राप्त नही है। महासती वीराजी की मुख्य शिष्या सद्दाजी थी जिनका परिचय इस प्रकार है।

राजस्थान के साम्भर ग्राम मे वि० स० १८५७ के पौष कृष्ण दशम को महासती सद्दाजी का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम पाटनदे था और पिता का नाम पीथाजी मोदी था। और दो ज्येष्ठ भ्राता थे। उनका नाम मालचन्द और वालचन्द था। सद्दाजी का रूप अत्यन्त सुन्दर था तथा माता-पिता का अपूर्व प्यार भी उन्हे प्राप्त हुआ था। उस समय जोधपुर के महाराजा अभयसिहजी थे। सुमेरसिहजी मेहता महाराजा अभयसिह के मनोनीत अधिकारी थे। उन्होने चारण के द्वारा सद्दाजी के अपूर्व रूप की प्रशसा सुनकर उनके पिता के सामने प्रस्ताव रखा अन्त मे सद्दाजी का पाणिग्रहण उनके साथ सम्पन्न हुआ। विराट वैभव और मनोनुकूल पत्नी को पाकर मेहताजी भोगो मे तल्लीन थे। सद्दाजी को वाल्यकाल से ही धार्मिक सस्कार मिले थे। इस कारण वे प्रतिदिन सामायिक करती थी और प्रात काल व सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण भी करती थी।

एक वार सद्दाजी एक प्रहर तक सवर की मर्यादा लेकर नमस्कार महामन्त्र का जाप कर रही थी, उसी समय दासियाँ घवरायी हुई और आँखो से आँसू वरसाती हुई दौडी आयी और कहा मालकिन, गजव हो गया। मेहताजी की हृदय गति एका-

एक रुक जाने से उनका प्राणान्त हो गया है। उन्होने सदा के लिए आँखे मूँद ली हैं। यह सुनते ही सद्दाजी ने तीन दिन का उपवास कर लिया और दूध, दही, घी, तेल और मिष्ठान इन पाँचो विगय का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर दिया। भोजन मे केवल रोटी और छाछ आदि का उपयोग करना ही रखकर शेष सभी वस्तुओ का त्याग कर दिया। पति मर गया, किन्तु उन्होने रोने का भी त्याग कर दिया। सास-ससुर दोनो आकर फूट-फूट कर रोने लगे, सद्दाजी ने उन्हे समझाया—अब रोने से कोई फायदा नही है। केवल कर्म-बन्धन होगा। इसलिए रोना छोड दे। आपका पुत्र आपको छोडकर ससार से विदा हो चुका है। ऐसी स्थिति मे मैं भी अब ससार मे नही रहूगी और श्रमणधर्म को स्वीकार करूँगी। सास और ससुर ने विविध दृष्टियो से समझाने का प्रयास किया किन्तु सद्दाजी की वैराग्य भावना इतनी दृढ थी कि वे विचलित नही हुईं। देवर रामलाल ने भी सद्दाजी से कहा कि आप ससार का परित्याग न करें। पुत्र को दत्तक लेकर आराम से अपना जीवन यापन करे। किन्तु सद्दाजी इसके लिए प्रस्तुत नही थी। उनके भ्राता मालचन्दजी और बालचन्दजी ने भी आकर बहन को सयम साधना की अतिदुष्करता बतायी। किन्तु सद्दाजी अपने मन्तव्य पर दृढ रही।

उस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की आज्ञानुवर्तिनी महासती भागाजी की शिष्या महासती वीराजी जोधपुर मे विराज रही थी। मेहता परिवार भी महासतीजी के निर्मल चरित्र से प्रभावित था। उन्होने कहा—तुम महासतीजी के पास सहर्ष प्रव्रज्या ग्रहण कर सकती हो किन्तु हम तुम्हे जोधपुर मे कभी भी दीक्षा नही लेने दे सकते। यदि तुम्हे दीक्षा ही लेनी है तो जोधपुर के अतिरिक्त कही भी ले सकती हो। सद्दाजी ने बाडमेर जिले के जसोल ग्राम मे वि० स० १८७७ मे महासती वीराजी के पास सयमधर्म स्वीकार किया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन्होने विनयपूर्वक अठारह शास्त्र कण्ठस्थ किये, सैंकडो थोकडे और अन्य दार्शनिक धार्मिक ग्रन्थ भी। इसके बाद देश के विविध अचलो मे परिभ्रमण कर धर्म की अत्यधिक प्रभावना की।

सद्दाजी की अनेक शिष्याएँ हुईं। उनमे फत्तूजी, रत्नाजी, चेनाजी और लाधाजी ये चार मुख्य थी। चारो मे विशिष्ट विशेषताएँ थी। महासती फत्तूजी का विहार-क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड रहा और उनकी शिष्याएँ भी मारवाड मे ही विचरण करती रही। आज पूज्य श्री अमरसिह जी महाराज की सम्प्रदाय की मारवाड मे जो साध्वियाँ हैं, वे सभी फत्तूजी के परिवार की हैं। महासती रत्नाजी का विचरण क्षेत्र मेवाड मे रहा। इसलिए मेवाड मे जितनी भी साध्वियाँ हैं वे रत्नाजी के परिवार की हैं। महासती चेनाजी मे सेवा का अपूर्व गुण था तथा महासती लाधाजी उग्र तपस्विनी थी। इन दोनो की शिष्या-परम्परा उपलब्ध नही होती है।

इस प्रकार ६७ दिन तक सथारा चला। ज्येष्ठ वदी अमावस्या वि० स० १९५६ के दिन उनका सथारा पूर्ण हुआ और वे स्वर्ग पधारी।

परम विदुषी महासती श्री सद्दाजी की शिष्याओ मे महासती श्री रत्नाजी परम विदुषी सती थी। उनकी एक शिष्या महासती रभाजी हुई। रभाजी प्रतिभा की धनी थी। उनकी सुशिष्या महासती श्री नवलाजी हुई। नवलाजी परम विदुषी साध्वी थी। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जो एक बार आपके प्रवचन को सुन लेता वह आपकी त्याग, वैराग्ययुक्त वाणी से प्रभावित हुए विना नही रहता। आपकी अनेक शिष्याएँ हुई। उनमे से पाँच शिष्याओ के नाम और उनकी परम्परा उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम महासती नवलाजी की सुशिष्या कसुवाजी थी। उनकी एक शिष्या हुई। उनका नाम सिरेकुँवरजी था और उनकी दो शिष्याएँ हुई। एक का नाम साकरकुवरजी और दूसरी का नाम नजरकुवरजी था। महासती साकरकुवरजी की कितनी शिष्याएँ हुई यह प्राचीन साक्ष्यो के अभाव मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। किन्तु महासती नजरकुंवरजी की पाँच शिष्याएँ हुई। महासती नजरकुँवरजी एक विदुषी साध्वी थी। इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के वल्लभ नगर के सन्निकट मेनार गाँव थी। आप जाति से ब्राह्मण थी। ब्राह्मण कुल मे जन्म लेने के कारण आप मे स्वाभाविक प्रतिभा थी। आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपकी पाँच शिष्याओ के नाम इस प्रकार हैं—(१) महासती रूपकुँवरजी—यह उदयपुर के सन्निकट देलवाडा ग्राम की निवासिनी थी। (२) म्हासती प्रतापकुँवरजी—यह भी उदयपुर राज्य के वीरपुरा ग्राम की थी। (३) महासती पाटूजी—ये समदडी (राजस्थान) की थी। इनके पति का नाम गोडाजी लुकड था। वि० स० १९७८ मे इनकी दीक्षा हुई। (४) महासती चौथाजी—इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के ववोरा ग्राम मे थी और इनकी ससुराल वाटी ग्राम में थी। (५) महासती एजाजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे ग्राम मे हुआ, आपके पिता का नाम भेरुलालजी और माता का नाम कत्थूवाई था। आपका पाणि-ग्रहण वारी (मेवाड) मे हुआ और वही पर महासती के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान मे इनमे से चार साध्वियो का स्वर्गवास हो चुका है केवल महासती एजाजी इस समय विद्यमान है। उनकी कोई शिष्याएँ नही हैं। इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक रही है।

महासती श्री नवलाजी की द्वितीय शिष्या गुमानाजी थी। उनकी शिष्या-परम्पराओ मे वडे आनन्दकुँवरजी एक विदुषी महासती हुई। वे वहुत ही प्रभावशाली थी। उनकी सुशिष्याएँ अनेक हुई, पर उन सभी के नाम मुझे उपलब्ध नही हुए। उनकी प्रधान शिष्या महासती श्री वालब्रह्मचारिणी अभयकुँवरजी हुई। आपका जन्म वि० स० १९५२ फाल्गुन वदी १२ मगलवार को राजवी के वाटेला गाँव (मेवाड) मे हुआ। आपने अपनी मातेश्वरी श्री हेमकुँवरजी के साथ महासती आनन्दकुँवरजी के

उपदेश से प्रभावित होकर वि० स० १९६० मृगशिर सुदी १३ को पाली मारवाड मे दीक्षा ग्रहण की । आपको शास्त्रो का गहरा अभ्यास था । आपका प्रवचन श्रोताओ के दिल को आकर्पित करने वाला होता था । जीवन की सान्ध्यवेला मे नेत्र-ज्योति चली जाने से आप भीम (मेवाड) मे स्थिरवास रही और वि० स० २०३३ के माघ मे आपश्री का सथारा सहित स्वर्गवास हुआ । आपश्री की दो शिष्याएँ हुई—महासती वदामकुँवरजी तथा महासती जसकुँवरजी । महासती बदामकुँवरजी का जन्म वि० स० १९६१ वसन्त पचमी को भीम गाँव मे हुआ । आपका पाणिग्रहण भी वही हुआ और वि० सवत् १९७८ मे विदुषी महासती अभयकुवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की । आप सेवाभावी महासती थी । स० २०३३ मे आपका भीम में स्वर्गवास हुआ । महासती श्री जसकुँवरजी का जन्म १९५३ मे पदराडा ग्राम मे हुआ । आपने महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास स० १९८५ मे कम्बोल ग्राम मे दीक्षा ग्रहण की और महासती श्री अभयकुवरजी की सेवा मे रहने से वे उन्हे अपनी गुरुणी की तरह पूजनीय मानती थी । आप मे सेवा की भावना अत्यधिक थी । स० २०३३ मे भीम मे स्वर्गवास हुआ । इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक चली ।

महासती श्री नवलाजी की तृतीय शिष्या केसरकुँवरजी थी । उनकी सुशिष्या छगनकुँवरजी हुईं ।

महासती छगनकुँवरजी—आप कुशलगढ के सन्निकट केलवाडे ग्राम की निवासिनी थी । लघुवय मे ही आपका पाणिग्रहण हो गया था । किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से आपके अन्तर्मानस मे धार्मिक साधना के प्रति विशेप रुचि जागृत हुई । आपका ससुर पक्ष मूर्तिपूजक आम्नाय के प्रति विशिष्ट रूप से आकर्पित था । आप तीर्थयात्रा की दृष्टि से उदयपुर आयी । कुछ वहिनें प्रवचन सुनने हेतु महासती गुलावकुँवरजी के पास जा रही थी । आपने उनसे पूछा कि कहाँ जा रही हैं । उन्होने वताया कि हम महासनीजी के प्रवचन सुनने जा रही है । उनके साथ आप भी प्रवचन सुनने हेतु पहुँची । महासतीजी के वैराग्यपूर्ण प्रवचन को सुनकर अन्तर्मानस मे तीव्र वैराग्य भावना जाग्रत हुई । आपने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरी भावना त्याग-मार्ग को ग्रहण करने की है । महासतीजी ने कहा—कुछ समय तक धार्मिक अध्ययन कर, फिर अन्तिम निर्णय लेना अधिक उपयुक्त रहेगा । बुद्धि तीक्ष्ण थी । अत कुछ ही दिनो में काफी थोकडे, बोल, प्रतिक्रमण व आगमो को कण्ठस्थ कर लिया । परिवार वालो ने आपकी उत्कृष्ट भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान की । आप अपने साथ तीर्थयात्रा करने हेतु विराट् सम्पत्ति भी लायी थी । परिवार वालो ने कहा—हम इस सम्पत्ति को नही लेंगे । अत सारी सम्पत्ति का उन्होने दान कर दिया । आपका प्रवचन वहुत ही मधुर होता था । आपकी अनेक शिष्याएँ थी । उनमे महासती फूलकुँवरजी मुख्य थी । वि० सं० १९६५ मे सथारे के साथ आपका उदयपुर मे स्वर्गवास हुआ ।

महासती श्री सद्दाजी ने अनेक मासखमण तथा कर्मचूर और विविध प्रकार के तप किये। तप आदि के कारण शारीरिक शक्ति विहार के लिए उपयुक्त न रहने पर वि० स० १६०१ मे वे जोधपुर मे स्थिरवास ठहरी। महासती फत्तू जी और रत्ना जी को उन्होने आदेश दिया कि वे घूम-घूम कर अत्यधिक धर्मप्रचार करें। उन्होने राजस्थान के विविध अचलो मे परिभ्रमण कर अनेको वहनो को प्रव्रज्या दी। स० १६२१ मे महासती फत्तूजी और रत्नाजी के विचार किया कि इस वर्ष हम सब गुरुणीजी की सेवा मे ही वर्षावास करेंगी। सभी महासती सद्दाजी की सेवा मे पहुँच गयी। आपाढ शुक्ला पचमी के दिन महासती सद्दाजी ने तिविहार सथारा धारण किया। सद्गुरुणीजी को सथारा धारण किया हुआ देखकर उनकी शिष्या महासती लाधाजी ने भी सथारा कर लिया और सद्गुरुणी जी से कुछ दिनो के पूर्व ही स्वर्ग पहुँच गईं। सथारा चल रहा था, महासतीजी ने अपनी शिष्याओ को बुलाकर अतिम शिक्षा देते हुए कहा—"अपनी परम्परा मे ब्राह्मण और वैश्य के अतिरिक्त अन्य वर्णवाली महिलाओ को दीक्षा नही देना, तथा मैंने अन्य जो समाचारी बनायी है, उसका पूर्णरूप से पालन करना। तुम वीरागना हो। सयम के पथ पर निरन्तर बढती रहना। चाहे कितने भी कष्ट आवें उन कष्टो से घबराना नही।" सद्गुरुणीजी की शिक्षा को सुनकर सभी साध्वियाँ गद्गद हो गयी। उन्हे लगा कि अब सद्गुरुणीजी लम्बे समय की मेहमान नही हैं। हमे उनकी आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करना ही चाहिए। भाद्रपद सुदी एकम के दिन पचपन दिन का संथारा कर वे स्वर्ग पधारी। इस प्रकार पैंतालीस वर्ष तक महासती सद्दाजी ने सयम की साधना, तप की आराधना की। आज भी महासती सद्दाजी की शिक्षा-परिवार मे पचास से भी अधिक साध्वियाँ हैं।

महासती रत्नाजी की शिष्या-परिवार मे शासन-प्रभाविका लछमाजी का नाम विस्मृत नही किया जा सकता। इनका जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम मे स० १६१० मे हुआ था। आपके पिता का नाम रिखवचन्दजी माण्डोत और माता का नाम नन्दूबाई था। आपके दो भ्राता थे—किसनाजी और वच्छराज जी। आपका पाणिग्रहण मादडा गाँव के साँकलचन्दजी चौधरी के साथ हुआ। कुछ समय के पश्चात् साँकलचन्दजी के शरीर मे भयकर व्याधि उत्पन्न हुई और उन्होंने सदा के लिए आँख मूँद ली। उस समय महासती रत्नाजी की शिष्या गुलावकुँवरजी मादडा पधारी। वे महान तपस्विनी थी, उन्होने अपने जीवन मे अनेको मासखमण किये थे। उनके उपदेश को सुनकर लछमाजी के मन मे वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। और वि० स० १६२८ मे भागवती दीक्षा ग्रहण की। वे प्रकृति से भद्र, विनीत और सरल मानसवाली थी।

एक वार वे अपनी सद्गुरुणीजी के साथ बडी सादडी मे विराज रही थी। सती-वृन्द कमरे मे आहार कर रही थी कि एक वालक आँखो से आँसू वरसाता हुआ

आया। बालक को रोते हुए देखकर लछमाजी ने पूछा—तू क्यो रो रहा है ? बालक ने रोते हुए कहा—मैं गट्टूलालजी मेहता के यहाँ नौकरी करता हूँ। मेरा नाम वछराज है। आज सेठ के यहाँ मेहमान आये हैं और सभी मिष्ठान खा रहे है। पर मेरे नसीव मे रूखी सूखी रोटी भी कहाँ है ? क्षुधा से छटपटाते हुए मैंने भोजन की याचना की। किन्तु उन्होने मुझे दुत्कार कर घर से निकाल दिया कि तुझे माल खाना है या नौकरी करनी है। मैं अपने भाग्य पर पश्चात्ताप कर रहा हूँ। लछमाजी ने बालक की ओर देखा। उसके चेहरे पर अपूर्व तेज था। उन्होने उसे आश्वासन देते हुए कहा—रोओ मत। कल से तेरे सभी दु ख मिट जायेंगे। बालक हँसता और नाचता हुआ चल दिया।

छोटी सादडी मे नागोरी श्रेष्ठी के लडका नही था। पास मे लाखो की सम्पत्ति थी। सेठानी के कहने से सेठ जी बालक वछराज को दत्तक लेने के लिए बडी सादडी पहुँचे और उसको अपना दत्तक पुत्र घोषित कर दिया। बालक ने महासती के चरणो मे गिरकर कहा—सद्गुरुणीजी, आपका ही पुण्य प्रताप है कि मुझे यह विराट सम्पत्ति प्राप्त हो रही है। आपकी भविष्यवाणी पूर्ण सत्य सिद्ध हुई। महासती लछमाजी के सहज रूप से निकले हुए शब्द सत्य सिद्ध होते थे। उनको वाचा सिद्धि थी। उनके जीवन के ऐसे अनेक प्रसग हैं जिसमे उनकी चमत्कारपूर्ण जीवन-झाँकियाँ हैं। विस्तारभय से मैं उसे यहाँ नही दे रहा हूँ।

महासती लछमाजी स० १९५५ मे गोगुन्दा पधारी। मन्द ज्वर के कारण शरीर शिथिल हो चुका था। अत चैत्र वदी अष्टमी के दिन उन्होने सथारा ग्रहण किया। तीन दिन के पश्चात् रात्रि मे एक देव ने प्रकट होकर उन्हे नाना प्रकार के कष्ट दिये और विविध प्रकार के सुगधित भोजन से भरा हुआ थाल सामने रखकर कहा कि भोजन कर लो। किन्तु सती जी ने कहा—मैं भोजन नही कर सकती। पहला कारण यह है कि देवो का आहार हमे कल्पता नही है। दूसरा कारण यह है कि रात्रि है। तीसरा कारण यह है कि मेरे सथारा है। इसलिए मैं आहार ग्रहण नही कर सकती। देव ने कहा—जब तक तुम आहार ग्रहण नही करोगी तब तक हम तुम्हे कष्ट देंगे। आपने कहा—मैं कष्ट से नही घबराती। एक क्षण भी प्रकाश करते हुए जीना श्रेयस्कर है किन्तु पथ-भ्रष्ट होकर जीना उपयुक्त नही है। तुम मेरे तन को कष्ट दे सकते हो, किन्तु आत्मा को नही। आत्मा तो अजर-अमर है। अन्त मे देवशक्ति पराजित हो गयी। उसने उनकी दृढता की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। सथारे के समय अनेको वार देव ने केशर की और सूखे गुलाब के पुष्पो की वृष्टि की। दीवालो पर केशर और चन्दन की छाप लग जाती थी। संगीत की मधुर स्वर लहरियाँ सुनायी देती थी और देवियो की पायल ध्वनि सुनकर जनमानस को आश्चर्य होता था कि ये अदृश्य ध्वनियाँ कहाँ से आ रही हैं।

महासती ज्ञानकुँवरजी—महासती छगनकुँवरजी की एक शिष्या विदुषी महासती ज्ञानकुँवरजी थी। आपका जन्म वि० स० १६०५ उम्मड ग्राम में हुआ और बम्बोरा के शिवलालजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। सं० १६४० मे आपके एक पुत्र हुआ जिसका नाम हजारीमल रखा गया। आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज तथा महासती छगनकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने १६५० मे महासती श्रीछगनकुँवरजी के पास जालोट मे दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र ने ज्येष्ठ शुक्ला १३ रविवार के दिन समदडी मे दीक्षा ग्रहण की। उनका नाम ताराचन्दजी महाराज रखा गया। वे ही आगे चलकर उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के गुरु बने। महासती ज्ञानकुँवरजी महाराज बहुत ही सेवाभावी तथा तपोनिष्ठा साध्वी थी। महासती श्री गुलाबकुँवरजी के उदयपुर स्थानापन्न विराजने पर आपश्री ने वहाँ वर्षों तक रहकर सेवा की और वि० स० १६८७ मे उदयपुर मे सथारा सहित उनका स्वर्गवास हुआ।

महासती फूलकुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के दुलावतो के गुटे में वि० स० १६२१ मे हुआ। आपके पिता का नाम भगवानचन्दजी और माता का नाम चुन्नीबाई था। लघुवय मे आपका पाणिग्रहण तीरपाल मे हुआ। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से महासती छगनकुँवरजी के उपदेश को सुनकर विरक्ति हुई और १७ वर्ष की उम्र मे आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। आपने अनेको शास्त्र कठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली भी अत्यन्त मधुर थी। आपके प्रवचन से प्रभावित होकर निम्न शिष्याएँ बनी—(१) महासती माणककुँवरजी, (२) महासती धूलकुँवरजी, (३) महासती आनन्दकुँवरजी, (४) महासती लाभकुँवरजी, (५) महासती सोहनकुँवरजी, (६) महासती प्रेमकुँवरजी और (७) महासती मोहनकुँवरजी। आपने पचास वर्ष तक सयम की उत्कृष्ट साधना की। वि० स० १६८६ मे आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा शरीर लम्बे समय तक नही रहेगा। आपने अपनी शिष्याओ को कहा कि मुझे अब सथारा करना है। किन्तु शिष्याओ ने निवेदन किया कि अभी आप पूर्ण स्वस्थ हैं, ऐसी स्थिति मे सथारा करना उचित नही है। उस समय आपने शिष्याओ के मन को दुखाना उचित नही समझा। आपने अपने मन से ही फाल्गुन शुक्ला बारस के दिन सथारा कर लिया। दूसरे दिन जब साध्वियाँ भिक्षा के लिए जाने लगी, तब उन्होने आपसे निवेदन किया कि हम आपके लिए भिक्षा मे क्या लावें तब आपने कहा कि मुझे आहार नही करना है। तीन दिन तक यही क्रम चला। चौथे दिन साध्वियो के आग्रह पर आपने स्पष्ट किया कि मैंने सथारा कर लिया है। चैत्र वदी अष्टमी को बारह दिन का सथारा पूर्ण कर आप स्वर्ग पधारी।

महासती माणककुँवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड ग्राम मे वि०स० १६१० मे हुआ। आपकी प्रकृति सरल, सरस थी। सेवा की भावना अत्यधिक

थी। ७५ वर्ष की उम्र में वि० स० १९८५ के आसोज महीने मे आपका उदयपुर मे स्वर्गवास हुआ।

महासती धूल कुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के मादडा ग्राम में वि० स० १९३५ माघ बदी अमावस्या को हुआ। आपके पिताश्री पन्नालाल जी चौधरी और माता का नाम नाथीवाई था। माता-पिता ने दीर्घकाल के पश्चात् सन्तान होने से आपका नाम धूलकुँवर रखा। तेरह वर्ष की लघुवय मे वास निवासी चिमनलाल जी ओरडिया के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। कुछ समय के पश्चात् ही पति का देहान्त होने पर, आपकी भावना महासती फूलकुँवर जी के उपदेश को सुनकर सयम ग्रहण करने की हुई। किन्तु पारिवारिक जनो के अत्याग्रह के कारण आप सयम न ले सकी और वि० स० १९५६ मे फाल्गुन बदी तेरस को वास ग्राम मे महासती फूलकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। विनय, वैयावृत्य और सरलता आपके जीवन की मुख्य विशेपताएँ थी। आपने अनेक शास्त्रो को भी कण्ठस्थ किया था। लगभग ३०० थोकडे आपको कण्ठस्थ थे। आपके महासती आनन्दकुँवरजी, महासती सौभाग्यकुँवरजी, महासती शम्भुकुँवरजी, वालब्रह्मचारिणी शीलकंवरजी, महासती मोहनकुँवरजी, महासती कचनकुँवरजी, महासती सुमनवतीजी, महासती दयाकुँवरजी, आदि शिष्याएँ थी। श्रद्धेय सगुद्रुवर्य पुष्करमुनिजी महाराज को भी प्रथम आपके उपदेश से ही वैराग्य भावना जागृत हुई थी। आपका विहार क्षेत्र मेवाड, मारवाड, मध्यप्रदेश, अजमेर, ब्यावर था। वि० स० २००३ मे आप गोगुन्दा ग्राम मे स्थानापन्न विराजी और वि० २०१३ मे कार्तिक शुक्ला ग्यारस को २४ घटे के सथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती लाभकुंवरजी—आपका जन्म वि० स० १९३३ मे उदयपुर राज्य के ढोल ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम मोतीलालजी ढालावत और माता का नाम तीजबाई था। आपका पाणिग्रहण सायरा के कावेडिया परिवार मे हुआ था। लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने पर महासती फूलकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० स० १९५९ मे सादडी मारवाड मे दीक्षा ग्रहण की। आपका कण्ठ वहुत मधुर था। व्याख्यान-कला सुन्दर थी। आपकी दो शिष्याएँ हुईं—महासती लहरकुँवरजी और दाखकुँवरजी। आपका स्वर्गवास २००३ मे श्रावण मे यशवतगढ मे हुआ।

महासती लहरकुंवरजी—आपका जन्म नान्देशमा ग्राम मे हुआ। आपके पिता का नाम सूरजमलजी सिंघवी और माता का नाम फूलकुँवर बाई था। आपका पाणिग्रहण ढोल निवासी गेगराजजी ढालावत के साथ हुआ। पति का देहान्त होने पर कुछ समय के पश्चात् एक पुत्री का भी देहावसान हो गया। एक पुत्री जिसकी उम्र सात वर्ष की थी उसे उसकी दादी को सौपकर वि० स० १९८१ मे ज्येष्ठ सुदी बारस को नान्देशमा ग्राम मे दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रकृति मधुर व मिलनसार

थी। स्तोक साहित्य का आपने अच्छा अभ्यास किया। आपकी एक शिष्या बनी जिनका नाम खमानकुँवरजी है।[1] आपका स्वर्गवास २०२६ माह वदी अष्टमी को १२ घटे के सथारे से सायरा मे हुआ।

महासती प्रेम कुंवरजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम मे हुआ और आपका पणिग्रहण उदयपुर मे हुआ था। पति का देहान्त होने पर महासती फूलकुंवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। आप प्रकृति से सरल, विनीत और क्षमाशील थी। वि० स० १९९४ मे आपका उदयपुर मे स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या थी जिनका नाम विदुषी महासती पानकुँवरजी था, जो बहुत ही सेवाभाविनी थी और जिनका स्वर्गवास वि० स० २०२४ के पौष माह मे गोगुन्दा ग्राम मे हुआ।

महासती मोहनकुंवर जी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के वाटी ग्राम मे हुआ था। आप लोदा परिवार की थी। आपका पाणिग्रहण मोलेरा ग्राम मे हुआ था। महासती फूलकुँवरजी के उपदेश को श्रवण कर चारित्रधर्म ग्रहण किया। आपको थोकडो का अच्छा अभ्यास था और साथ ही मधुर व्याख्यानी भी थी।

महासती सौभाग्यकुंवरजी—आपका जन्म वडी सादडी नागोरी परिवार मे हुआ था और वडी सादडी के निवासी प्रतापमल जी मेहता के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। आपके एक पुत्र भी हुआ। महासती श्री धूल कुँवरजी के उपदेश को सुनकर आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी प्रकृति भद्र थी। ज्ञानाभ्यास साधारण था। वि० स० २०२७ आसोज सुदी तेरस को तीन घटे सथारे के साथ गोगुन्दा मे आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती शम्भुकुंवरजी—आपका जन्म वि० स० १९५८ मे वागपुरा ग्राम मे हुआ। आपके पिता का नाम गेगराजजी धर्मावत और माता का नाम नाथीवाई था। खाखड निवासी अनोपचन्द जी वनोरिया के सुपुत्र धनराजजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। आपके दो पुत्रियाँ हुई। वडी पुत्री भूरबाई का पाणिग्रहण उदयपुर निवासी चन्दनमल जी कर्णपुरिया के साथ हुआ। कुछ समय पश्चात् पति का निधन होने पर आप उदयपुर मे अपनी पुत्री के साथ रहने लगी। महासती धूलकुँवरजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। अपनी लघु पुत्री अचरज वाई के साथ वि० सं० १९८२ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को खाखड ग्राम मे दीक्षा ग्रहण की। पुत्री का नाम शीलकुवरजी रखा गया। आपको थोकडो का तथा आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपके प्रवचन वैराग्यवर्धक होते थे। वि० स० २०१८ मे आप गोगुन्दा मे स्थिरवास विराजी। वि० स० २०२३ के आपाढ वदी तेरस को सथारापूर्वक

---

1 देखिए परिचय— वर्तमान परम्परा में साध्वियाँ—ले० राजेन्द्र मुनि साहित्यरत्न

स्वर्गवास हुआ। आपकी प्रकृति भद्र व सरल थी। सेवा का गुण आप मे विशेप रूप से था।

इसी परम्परा मे परम विदुपी महासती श्री शीलकुँवरजी महाराज वर्तमान मे है। महासती शीलकुँवरजी की महासती मोहनकुँवरजी, महासती सायरकुँवरजी, विदुपी महासती श्री चन्दनबालाजी, महासती श्री चेलनाजी, महासती साधनाकुँवरजी और महासती विनयप्रभाजी आदि अनेक आपकी सुशिष्याएँ है जिनमे बहुत सी प्रभावशाली विचारक व वक्ता हैं।

महासती नवलाजी की चतुर्थ शिष्या **जसाजी** हुई। उनके जन्म आदि वृत्त के सम्बन्ध मे सामग्री प्राप्त नही हो सकी है। उनकी शिष्या-परम्पराओ मे महासती श्री **लाभकुंवरजी** थी। इनका जन्म उदयपुर राज्य मे कंबोल ग्राम मे हुआ। इन्होने लघुवय मे दीक्षा ग्रहण की। ये बहुत ही निर्भीक वीरागना थी। एक वार अपनी शिष्याओ के साथ खमनोर (मेवाड) ग्राम से सेमल गांव जा रही थी। उस समय साथ मे अन्य कोई भी गृहस्थ श्रावक नही थे, केवल साध्वियाँ ही थी। उस समय सशस्त्र चार डाकू आपको लूटने के लिए आ पहुँचे। अन्य साध्वियाँ डाकुओ के डरावने रूप को देखकर भयभीत हो गयी। डाकू सामने आये। महासती जी ने आगे बढकर उन्हे कहा—तुम वीर हो, क्या अपनी बहू बेटी साध्वियो पर हाथ उठाना तुम्हारी वीरता के अनुकूल है ? तुम्हे शरम आनी चाहिए। इस वीर भूमि मे तुम साध्वियो के वस्त्र आदि लेने पर उतारू हो रहे हो। क्या तुम्हारा क्षात्रतेज तुम्हे यही सिखाता हैं ? इस प्रकार महासतीजी के निर्भीकतापूर्वक वचनो को सुनकर डाकुओ के दिल परिवर्तित हो गये। वे महासतीजी के चरणो मे गिर पडे और उन्होने प्रतिज्ञा की कि हम भविष्य मे किसी बहन या माँ पर हाथ नही उठायेंगे और न बालको पर ही। डाका डालना तो हम नही छोड सकते, पर इस नियम का हम दृढता से पालन करेंगे।

एक वार महासती लाभकुँवरजी चार शिष्याओ के साथ देवरिया ग्राम मे पधारी। वहाँ पर एक बहुत ही सुन्दर मकान था। एक श्रावक ने कहा—महासतीजी यह मकान आप सतियो के ठहरने के लिए बहुत ही साताकारी रहेगा। अन्य श्रावकगण मौन रहे। महासतीजी वहाँ पर ठहर गयी। महासतीजी ने देखा उस मकान मे पलग बिछा हुआ था। उस पर गादी-तकिये बिछाये हुए थे तथा इत्र और पुष्पो की मधुर सौरभ से मकान सुवासित था। रात्रि मे कोई भी बहिन महासतीजी के दर्शन के लिए वहाँ उपस्थित नही हुई। महासतीजी को पता लग गया कि इस मकान मे अवश्य ही भूत और प्रेत का कोई उपद्रव है। महासती लाभकुंवरजी ने सभी शिष्याओ को आदेश दिया कि सभी आकर मेरे पास पास बैठें। आज रात्रि भर हम अखण्ड नवकार मत्र का जाप करेंगी। जाप चलने लगा। एक साध्वीजी को जरा नीद आने लगी। ज्यो ही वे सोईं त्यो ही प्रेतात्मा उस महासती की छाती पर सवार हो गयी जिससे वह चिल्लाने लगी। महासती लाभकुंवरजी ने आगे वढकर उस प्रेत

को ललकारा—तुझे महासतियो को परेशान करते हुए लज्जा नही आती। हमने तुम्हारा कुछ भी नही विगाडा है। महासती की गभीर गर्जना को सुनकर प्रेतात्मा एक ओर हो गया। महासती लाभकुँवरजी ने सभी साध्वियो से कहा जव तक—तुम जागती रहोगी तव तक प्रेतात्मा का किंचित् भी जोर न चलेगा। जागते समय जप चलता रहा। किन्तु लवा विहार कर आने के कारण महासतियाँ थकी हुई थी। अतः उन्हे नीद सताने लगी। ज्योही दूसरी महासती नीद लेने लगी त्यो ही प्रेतात्मा उन्हे घसीट कर एक ओर ले चला। गहरा अधेरा था महासती लाभकुँवरजी ने ज्यो ही अन्धेरे मे देखा कि प्रेतात्मा उनकी साध्वी को घसीट कर ले जा रहा है, नवकार मत्र का जाप करती हुई वे पहुँची और प्रेतात्मा के चगुल मे साध्वी को छुडाकर पुन अपने स्थान पर लायी और रात भर जाप करती हुई पहरा देती रही। प्रात होने पर उनके तप तेज से प्रभावित होकर महासतीजी से क्षमा मागकर प्रेतात्मा वहाँ से चला गया। महासतीजी ने श्रावको को उपालंभ देते हुए कहा—इस प्रकार भयप्रद स्थान मे साध्वियो को नही ठहराना चाहिए। श्रावको ने कहा—हमने सोचा कि हमारी गुरुणीजी वडी ही चमत्कारी हैं, इसलिए इस मकान का सदा के लिए सकट मिट जायगा अत उस श्रावक की प्रार्थना करने पर मौन रहे, अव क्षमा प्रार्थी हैं। महासतीजी ने कहा—सकट तो मिट गया पर हमे कितनी परेशानी हुई।

इस प्रकार महासतीजी के जीवन मे अनेको घटनाएं घटी किन्तु उनके ब्रह्मचर्य के तेज व जप-साधना के कारण सभी उपद्रव शात रहे। महासती श्री लाभकुँवरजी की अनेक शिष्याओ मे एक शिष्या महासती छोटे आनन्द कुँवरजी थी। आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के कमोल ग्राम मे थी। ये बहुत ही मधुरभाषिणी थी। उनके जीवन मे त्याग की प्रधानता थी। इसलिए उनके प्रवचनो का असर जनता के अन्तर्मानस पर सीधा होता था। आप जहाँ भी पधारी वहाँ आपके प्रवचनो से जनता मत्रमुग्ध होती रही। आपकी अनेक शिष्यायें हुई। उनमे महासती मोहन-कुँवरजी महाराज और लहरकुँवरजी महाराज इन दो शिष्याओ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

महासती मोहनकुँवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम मे हुआ। उनका गृहस्थाश्रम का नाम मोहनवाई था। जाति से आप ब्राह्मण थी। नौ वर्ष की लघुवय मे उनका पाणिग्रहण हो गया। वह पति के साथ एक वार तीर्थयात्रा के लिए गुजरात आयी। भडोच के सन्निकट नरमदा मे स्नान कर रही थी कि नदी मे पानी का अचानक तीव्र प्रवाह आ गया जिससे अनेक व्यक्ति जो किनारे पर स्नान कर रहे थे पानी मे वह गये। मोहनवाई का पति भी वह गया जिससे ये विधवा हो गयी। उस समय महासती आनन्दकुँवरजी विहार करती हुई भूताले पहुँची। उनके उपदेश से प्रभावित हुई। मन मे वैराग्य-भावना लहराने लगी। किन्तु उनके चाचा मोतीलाल ने अनेक प्रयास किये कि उनका वैराग्य रग फीका पड जाय। अनेक वार उन्हे थाने के

अन्दर कोठरी मे बन्द कर दिया, पर वे सभी परीक्षाओ मे समुत्तीर्ण हुईं। अन्त मे मोतीलालजी उन्हे महाराणा फतहसिंह के पास ले गये। महाराणाजी ने भी उनकी परीक्षा ली। किन्तु उनकी दृढ वैराग्य-भावना देखकर दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी जिससे सोलह वर्ष की उम्र मे आर्हती दीक्षा ग्रहण की। खूब मन लगाकर अध्ययन किया। आपकी दीक्षा के सोलह वर्ष के पश्चात् आपका वर्षावास अपनी सद्गुरुणी के साथ उदयपुर मे था। आश्विन शुक्ला पूर्णिमा की रात्रि मे वे सोयी हुई थी। उन्होने देखा एक दिव्य रूप सामने खडा है और वह आवाज दे रहा है कि जाग रही हैं या सो रही है ? तत्क्षण वे उठकर बैठ गयी और पूछा—आप कौन हैं ? और क्यो आये है ? देव ने कहा—यह न पूछो, देखो तुम्हारा अन्तिम समय आ चुका है। कार्तिक सुदी प्रतिपदा के दिन नौ बजे तुम अपनी नश्वर देह का परित्याग कर दोगी, अत सथारा आदि कर अपने जीवन का उद्धार कर सकती हो। यह कह-कर देव अन्तर्धान हो गया। महासती आनन्दकुँवरजी जो सन्निकट ही सोयी हुई थी, उन्होने सुना और पूछा किससे बात कर रही हो ? उन्होने महासतीजी से निवेदन किया कि मेरा अन्तिम समय आ चुका है, इसलिए मुझे सथारा करा दें। महासतीजी ने कहा—अभी तेरी बत्तीस वर्ष की उम्र है, शरीर मे किसी भी प्रकार की व्याधि नही है, अत मैं सथारा नही करा सकती। उस समय उदयपुर मे आचार्य श्रीलालजी महाराज का भी वर्षावास था, उन्होने भी अपने शिष्यो को भेजकर महासती से सथारा न कराने का आग्रह किया और महाराणा फतहसिंहजी को ज्ञात हुआ तो उन्होने भी पुछवाया कि असमय मे सथारा क्यो कर रही हो, तब महासती ने कहा मैं स्वेच्छा से सथारा कर रही हूँ, मैं मेवाड की वीरागना हूँ। स्वीकृत सकल्प से पीछे हटने वाली नही हूँ। अन्त मे सथारा ग्रहण किया और गौतम प्रतिपदा के दिन निश्चित समय पर उनका स्वर्गवास हुआ।

महासती लहरकुँवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा ग्राम मे हुआ और आपका पाणिग्रहण भी सरोदा में हुआ। किन्तु लघुवय मे ही पति का देहान्त हो जाने से महासती श्री आनन्दकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आगम साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। एक बार सायरा ग्राम में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक और तेरा-पथ की सतियो के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ। आपने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हे परास्त कर दिया। आपकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। आपकी वाणी मे मिश्री सा माधुर्य था। स० २००७ में आपका वर्षावास यशवन्तगढ (मेवाड़) मे था। शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई और सथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्याएँ हुईं—महासती सज्जन कुँवरजी और महासती कंचनकुँवरजी।

महासती सज्जन कुँवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम के बत्रोरी परिवार मे हुआ। आपके पिता का नाम भैरूलालजी और माता का नाम रगूबाई था। १३ वर्ष की अवस्था मे आपका पाणिग्रहण कमोल के ताराचन्दजी दोशी के साथ

सम्पन्न हुआ। आपका गृहस्थाश्रम का नाम जमुनाबाई था। सोलह वर्ष की उम्र में पति का देहान्त होने पर विदुषी महासती आनन्दकुँवरजी के उपदेश से सं० १९७६ मे दीक्षा ग्रहण की। चौपन वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन कर सं० २०३० आसोज सुदी पूर्णिमा के दिन आपका यशवन्तगढ मे स्वर्गवास हुआ। महासती सज्जनकुँवरजी की एक शिष्या हुई जिनका नाम बालब्रह्मचारिणी विदुषी महासती कौशल्याजी है। महासती कौशल्याजी की चार शिष्याएँ हैं—महासती विजयवतीजी, महासती हेमवतीजी, महासती दर्शनप्रभाजी और महासती सुदर्शनप्रभाजी।

महासती लहरकुँवरजी की दूसरी शिष्या महासती कचनकुँवर जी का जन्म उदयपुर राज्य के कमोल गाँव के दोसी परिवार मे हुआ। तेरह वर्ष की वय मे आपका विवाह पदराडा मे हुआ और चार महीने के पश्चात् ही पति के देहान्त हो जाने से लघुवय मे विधवा हो गयी। महासती श्री लहरकुँवरजी के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण की। आपका नादेशमा ग्राम मे सथारे के साथ स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या है जिनका नाम महासती वल्लभकुँवरजी हैं—जो बहुत ही सेवा-परायण है।

पूर्व पक्तियो मे हम बता चुके है कि महासती सद्दाजी की रत्नाजी, रभाजी, नवलाजी की पाँच शिष्याएँ हुईं, उनमे से चार शिष्याओ के परिवार का परिचय दिया जा चुका है। उनकी पाँचवी शिष्या अमृताजी हुई। उनकी परम्परा मे महासती श्री रायकुँवरजी हुईं जो महान प्रतिभासम्पन्न थी। आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट कविता ग्राम मे थी। आप ओसवाल तलेसरा वश की थी। उनके अन्य जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे मुझे विशेष सामग्री उपलब्ध नही हो सकी है। पर यह सत्य है कि वे एक प्रतिभासम्पन्न साध्वी थी। जिनके पवित्र उपदेशो से प्रभावित होकर अनेक शिष्याएँ बनी। उनमे से दस शिष्याओ के नाम उपलब्ध होते हैं। अन्य शिष्याओ के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त नही हो सकी है।

(१) **महासती सूरजकुँवरजी**—इनकी जन्मस्थली उदयपुर थी और पाणिग्रहण साडोल (मेवाड) के हनोत परिवार मे हुआ था। महासती जी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने साधनामार्ग स्वीकार किया। आपकी कितनी शिष्याएँ हुई, यह ज्ञात नही।

(२) **महासती फूलकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आँचालिया परिवार मे आपका पाणिग्रहण हुआ। महासतीजी के पावन प्रवचनो से प्रभावित होकर श्रमणीधर्म स्वीकार किया। आपकी भी कितनी शिष्याएँ हुई, यह ज्ञात नही।

(३) **महासती हुल्लासकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण भी उदयपुर के हरखावत परिवार में हुआ था। आपने भी महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर सयम धर्म ग्रहण किया था। महासती हुल्लासकुँवरजी बहुत विलक्षण प्रतिभा की धनी थी। आपके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच शिष्याएँ

बनी—महासती देवकुँवरजी (जन्म कर्णपुर के पोरवाड परिवार मे तथा विवाह उदयपुर पोरवाड परिवार), महासती प्यारकुँवरजी (जन्म—बाठेडा, ससुराल—डबोक), महासती पदमकुँवरजी—इनका जन्म उदयपुर के सन्निकट थामला के सियार परिवार मे हुआ और डबोक झगडावत परिवार मे पाणिग्रहण हुआ। स्थविरा विदुषी महासती सौभाग्य कुवरजी और सेवामूर्ति महासती चतुरकुँवरजी। इनमे महासती पदमकु वरजी की महासती **कैलासकुँवरजी** शिष्या हुई। आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपके पिपा का नाम हीरालालजी और माता का नाम इदिराबाई था। आपका गणेशीलालजी से पाणिग्रहण हुआ था। स० १९९३ फाल्गुन शुक्ला दसमी के दिन देलवाडा मे आपने दीक्षा ग्रहण की। आपको चरित्र वाँचने की शैली वहुत ही सुन्दर थी, आपकी सेवाभावना प्रशसनीय थी। स० २०३२ मे आपका अजमेर मे सथारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती रतनकुँवरजी है।

महासती हुल्लासकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या **सौभाग्यकुँवर जी** हैं। आपकी जन्मस्थली उदयपूर, पिता का नाम मोडीलालजी खोखावत और माता का नाम रूपाबाई था। आपश्री वर्तमान मे विद्यमान हैं। आपका स्वभाव बहुत ही मधुर है। आपकी शिष्या हुई महासती **मोहनकुँवरजी** जिनका जन्म दरीबा (मेवाड) मे हुआ और उनका पाणिग्रहण दबोक ग्राम मे हुआ। वि० स० २००६ मे आपने दीक्षा ग्रहण की और स० २०३१ मे आपका स्वर्गवास उदयपुर मे हुआ।

महासती हुल्लासकुँवरजी की पाँचवी शिष्या महासती **चतुरकुँवरजी** हैं जो वहुत ही सेवापरायण साध्वीरत्न हैं।

(४) महासती रायकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या **हुकमकुँवरजी** थी। उनकी सात शिष्याएँ हुई—महासती **भूरकुँवरजी**—आपका जन्म उदयपुर राज्य के कविता ग्राम मे हुआ। आपको थोकडे साहित्य का बहुत ही अच्छा परिज्ञान था। पचहत्तर वर्ष की उम्र मे आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती प्रतापकुँवरजी था, जो प्रकृति से भद्र थी। लखावली के भण्डारी के परिवार मे आपका पाणिग्रहण हुआ था और लगभग सत्तर वर्ष की उम्र मे आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की दूसरी शिष्या **रूपकुँवरजी** थी। आपकी जन्मस्थली देवास (मेवाड) की थी। लोढा परिवार मे आपका पाणिग्रहण हुआ। आपने महासती जी के पास दीक्षा ग्रहण की। वर्षों तक सयम पालन कर अन्त मे आपका उदयपुर मे स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की तृतीय शिष्या **बल्लभकुँवरजी** थी। आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार मे हुआ था और आपका पाणिग्रहण उदयपुर के

गेलडा परिवार मे हुआ। आपने दीक्षा ग्रहण कर आगम शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम महासती **गुलावकुँवरजी** था। आपका जन्म 'गुलुडिया' परिवार मे हुआ था और पाणिग्रहण 'वया' परिवार मे हुआ था। आपको आगम व स्तोक साहित्य का सम्यक् परिज्ञान था। उदयपुर मे ही सथारा सहित स्वर्गस्थ हुई।

महासती हुकुमकुँवरजी की चौथी शिष्या **सज्जनकुँवरजी** थी। आपने उदयपुर के वाफना परिवार मे जन्म लिया और दुगडो के वहाँ पर ससुराल था। आपकी एक शिष्या हुई जिनका नाम **मोहनकुँवरजी** था जिनकी जन्मस्थली अलवर थी और ससुराल खण्डवा मे था। वर्षो तक सयम साधना कर उदयपुर मे आपका स्वर्गवास हुआ।

महासती हुकुमकुँवरजी की पाँचवी शिष्या छोटे **राजकुँवरजी** थी। आप उदयपुर के माहेश्वरी वश की थी।

महासती हुकुमकुँवरजी की एक शिष्या **देवकुँवरजी** थी जो उदयपुर के सन्निकट कर्णपुर ग्राम की निवासिनी थी और पोरवाड वश की थी और सातवी शिष्या महासती **गेंदकुँवरजी** थी। आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट भूआना के पगारिया कुल मे हुआ। चन्देसरा गांव के वोकडिया परिवार मे आपकी ससुराल थी। आपको सैकडो थोकडे कण्ठस्थ थे। आप सेवापरायण थी। स० २०१० मे व्यावर मे आपका स्वर्गवास हुआ।

(५) **महासती मदनकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपकी प्रतिभा गजब की थी। आपने महासतीजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आपको आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन था और थोकडा साहित्य पर भी आपका पूर्ण अधिकार था। एक वार आचार्य श्रीमुन्नालालजी महाराज जो आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे, उन्होने उदयपुर के जाहिर प्रवचन सभा मे महासती मदनकुँवरजी को उन्नीस प्रश्न किये थे। वे प्रश्न आगम ज्ञान के साथ ही प्रतिभा से सम्वन्धित थे। उन्होने पूछा—वताइये महासतीजी, सिद्ध भगवान कितना विहार करते है? उत्तर मे महासतीती ने कहा—सिद्ध भगवान सात राजु का विहार करते हैं, क्योकि सिद्ध जो वनते हैं वे यहाँ पर वनते हैं, यही पर अष्ट कर्म नष्ट करते है और फिर कर्म नष्ट होने से वे ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर अवस्थित होते है। क्योकि वहाँ से आगे आकाश द्रव्य है, पर धर्मास्तिकाय नही।

महाराजश्री ने दूसरा प्रश्न किया—साधु कितना विहार करते हैं? उत्तर मे महासती जी ने कहा—आचार्य प्रवर, साधु चौदह राजु का विहार करते हैं। केवली भगवान जिनका आयुकर्म कम होता है और वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म अधिक होता है, तव केवली समुद्घात होती है। उस समय उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक मे प्रस-

रित हो जाते हैं। केवली महाराज साधु है। उनके आत्मप्रदेश भी साधु के हैं। इस दृष्टि से वे चौदह राजु का विहार करते है।

आचार्यश्री ने तीसरा प्रश्न किया—सिद्ध भगवान कितने लम्बे है और कितने चौडे है? महासतीजी ने उत्तर मे निवेदन किया—सिद्ध भगवान तीन सौ तैंतीस धनुप और बत्तीस अगुल लम्बे है। क्योकि पाँच सौ धनुप की अवगाहना वाले जो सिद्ध बनते हैं उनके आत्मप्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अगुल लम्बे रहते हैं और सिद्ध भगवान चौडे है पैंतालीस लाख योजन। पैंतालीस लाख योजन का मनुष्य-क्षेत्र है। जहाँ पर एक सिद्ध हैं वहाँ पर अनन्त सिद्ध है। सभी सिद्धो के आत्म-प्रदेश परस्पर मिले हुए हैं। बीच मे तनिक मात्र भी व्यवधान नही है। इस घनत्व की दृष्टि से सिद्ध पैंतालीस लाख योजन चौडे है।

चौथा प्रश्न आचार्यश्री ने किया—चौबीस तीर्थकरो मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभ-देव हैं और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। बताइये दोनो मे से किसकी आत्मा हमारे से अधिक सन्निकट है? उत्तर मे महासतीजी ने कहा—भगवान ऋषभ-देव की आत्मा हमारे म अधिक सन्निकट है बनिस्बत महावीर के। क्योकि भगवान ऋपभदेव की अवगाहना पाँच सौ धनुप की थी और महावीर की अवगाहना सात हाथ की थी। जिसमे ऋपभदेव के आत्म-प्रदेश तीन सौ तैंतीस धनुष और बत्तीस अगुल हैं और महावीर की आत्मा के प्रदेश चार हाथ और सोलह अगुल है। अत ऋपभदेव की आत्मा महावीर की आत्मा स हमारे अधिक सन्निकट है।

पाँचवाँ प्रश्न आचार्यश्री ने किया—दो श्रावक है। वे दोनो एक ही स्थान पर बैठे है। एक देवसी, प्रतिक्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। ये दोनो पृथक-पृथक प्रतिक्रमण क्यो करते है? उसकी क्या अपेक्षा है? स्पष्ट कीजिए। महासतीजी ने उत्तर मे कहा—दो श्रावक है, एक भरतक्षेत्र का दूसरा महाविदेह क्षेत्र का। वे दोनो श्रावक विराधक हो गये और वे वहाँ से आयु पूर्ण कर अढाई द्वीप के बाहर नन्दीश्वर द्वीप मे जलचर के रूप मे उत्पन्न हुए। नन्दीश्वर द्वीप मे देव भगवान तीर्थंकरो के अष्टाह्निक महोत्सक मानते हैं। उन महोत्सवो मे तीर्थं-कर भगवान के उत्कीर्तन को सुनकर उन जलचर जीवो को जातिस्मरणज्ञान होता है और वे उस ज्ञान से अपने पूर्वभव को निहारते है और उस जातिस्मरणज्ञान के आधार से वे वहाँ पर प्रतिक्रमण करते है। क्योकि नन्दीश्वर द्वीप मे तो रात-दिन का कोई क्रम नही है। अत वे जातिस्मरणज्ञान से अपने पूर्व स्थल को देखते हैं, मन मे ग्लानि होती है, अत वे वहाँ प्रतिक्रमण करते है। पर जिस समय भरतक्षेत्र मे दिन होता है उस समय महाविदेहक्षेत्र मे रात्रि होती है, अत एक देवसी प्रति-क्रमण करता है और दूसरा राईसी प्रतिक्रमण करता है। सन्निकट बैठे रहने पर भी वे दोनो पृथक-पृथक प्रतिक्रमण करते है।

आचार्यश्री ने छठा प्रश्न किया—जीव के पाँच सौ तिरसठ भेदो मे से ऐसा

कौन-सा जीव है जो एकान्त मिथ्यादृष्टि है और साथ ही एकान्त शुक्ललेश्यी भी। क्योकि दोनो परस्पर विरोधी है। महासतीजी ने कहा—तेरह सागर की स्थिति वाले किल्विषी देव मे एकान्त मिथ्यादृष्टि होती है और साथ ही वे एकान्त शुक्ल-लेश्यी भी है।

इस प्रकार उन्नीस प्रश्नो के उत्तरो को सुनकर आचार्य प्रवर और सभा प्रमुदित हो गयी और उन्होने कहा—मैने कई सन्त-सतियाँ देखी, पर इनके जैसी प्रतिभासम्पन्न साध्वी नही देखी। महासती मदनकुँवरजी जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी थी उसी प्रकार उत्कृष्ट आचारनिष्ठा भी थी। गुप्त तप उन्हे पसन्द था। प्रदर्शन से वे कोसो दूर भागती थी। वे साध्वियो के आहारादि से निवृत्त होने पर जो अवशेष आहार बच जाता और पात्र धोने के बाद जो पानी बाहर डालने का होता उसी को पीकर सतोष कर लेती। कई बार नन्ही सी गुड की डेली या शक्कर लेकर मुँह मे डाल लेती। यदि कोई उनसे पूछता—क्या आज आपके उपवास है, वे कहती—नही, मैंने तो मीठा खाया है।

उनमे सेवा का गुण भी गजब का था। उन्हे हजारो जैन कथाएं और लोक कथाएँ स्मरण थी। समय-समय पर बालक और बालिकाओ को कथा के माध्यम से ससार की असारता का प्रतिपादन करती। कर्म के मर्म को समझाती। उनका मानना था कि बालको को और सामान्य प्राणियो को कथा के माध्यम मे ही उपदेश देना चाहिए जिससे वह उपदेश ग्रहण कर सके। उन्होने मुझे बाल्यकाल मे सैकडो कथाएँ सुनाई थी। सन् १९४९ मे तीन दिन के सथारे के साथ उदयपुर मे उनका स्वर्गवास हुआ।

(६) **महासती सल्लेकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी और आपका उदयपुर मे ही मेहता परिवार मे पाणिग्रहण हुआ। आप को महासतीजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य-भावना जागृत हुई और अपनी पुत्री सज्जनकुँवर के साथ आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप सेवापरायणा साध्वी थी।

(७) **महासती सज्जनकुँवरजी**—आपकी माता का नाम सल्लेकुँवर था और आपने माँ के साथ ही महासतीजी की सेवा मे दीक्षा ग्रहण की थी।

(८) **महासती तीजकुँवरजी**—आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव मे थी। आपका पाणिग्रहण उसी गाँव मे सेठ रोडमलजी भोगर के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम मे आपका नाम गुलाबदेवी था। आपके दो पुत्र थे जिनका नाम प्यारेलाल और भैरूलाल था तथा एक पुत्री थी जिसका नाम खमाकुँवर था। आपने महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दो पुत्र और एक पुत्री के साथ दीक्षा ग्रहण की। आपके पति का स्वर्गवास बहुत पहले हो चुका था। आपश्री ने श्रमणी-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् नौ बार मासखमण की तपस्याएँ की, सोलह वर्षों तक आपने एक घी के अतिरिक्त दूध, दही, तेल और मिष्ठान इन चार विगयो का त्याग

किया। एक वार आपको प्रात.काल सपना आया—आपने देखा कि एक घडे के समान वृहत्काय मोती चमक रहा है। अत जागृत होते ही आपने स्वप्न-फल पर चिन्तन करते हुए विचार किया है अब मेरा एक दिन का ही आयु शेष है। अत सथारा कर अपने जीवन को पवित्र वनाऊँ। आपने संथारा किया और एक दिन का सथारा कर स्वर्गस्थ हुईं।

(६) **परम विदुषी महासती श्री सोहनकुँवरजी**—आपश्री की जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव मे थी और जन्म स० १९४९ (सन् १८९२) मे हुआ। आपके पिताश्री का नाम रोडमलजी और माता का नाम गुलावदेवी था और आपका सासारिक नाम खमाकु वर था। नौ वरस की लघवय मे ही आपका वाग्दान टुन्नावतो के गुडे के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परम विदुषी महासती राय-कुँवरजी और कविवर्य प० मुनि नेमीचन्दजी महाराज के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश को श्रवण कर आपमे वैराग्य भावना जाग्रत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था उनका सम्वन्ध छोड़कर अपनी मातेश्वरी और अपने जेष्ठ भ्राता प्यारेलाल और भैरूलाल के साथ क्रमश महासती राजकुवरजी और कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के पास जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षास्थली पचभद्रा (वाडमेर) मे थी और दोनो ने शिवगज (जोधपुर) मे दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके भ्राताओ की उम्र १३ और १४ वर्ष की थी और आपकी उम्र ९ वर्ष की। दोनो भ्राता वडे ही मेधावी थे। कुछ ही वर्षों मे उन्होने आगम साहित्य का गहरा अध्ययन किया। किन्तु दोनो ही युवावस्था मे क्रमश मदार (मेवाड) और जयपुर मे सथारा कर स्वर्गस्थ हुए।

खमाकुँवर का दीक्षा नाम महासती सोहनकुँवरजी रखा गया। आप वाल-ब्रह्मचारिणी थी। आपने दीक्षा ग्रहण करते ही आगम साहित्य का गहरा अध्ययन प्रारम्भ किया और साथ ही थोकडे साहित्य का भी। आपने शताधिक रास, चौपा-इयाँ तथा भजन भी कण्ठस्थ किये। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थी विविध आगम रहस्यो के साथ रूपक, दोहे, कवित्त श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थी। विषय के अनुसार आपकी भापा मे कभी ओज और कभी शान्तरस प्रवाहित होता था और जनता आपके प्रवचनो को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाती थी।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के सस्कारो के साथ तप की परम्परा आपको विरासत मे मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किये थे, उनमे से कुछ नियमो की सूची इस प्रकार है—

(१) पच पर्व दिनो मे आयविल, उपवास, एकासन, नीवि आदि मे से कोई न कोई तप अवश्य करना।

(२) बारह महीने मे छह महीने तक चार विगय ग्रहण नही करना। केवल एक विगय का ही उपयोग करना।

(३) छ महीने तक अचित्त हरी सब्जी आदि का भी उपयोग नही करना।

(४) चाय का परित्याग।

(५) उन्होने महासती कुसुमवतीजी, महासती पुष्पवतीजी और महासती प्रभावतीजी[1] ये तीन शिष्याएँ बनायी। उसके पश्चात् उन्होंने अपनी नेश्राय मे शिष्याएँ बनाना त्याग दिया। यद्यपि उन्होने पहले भी तीस-पैंतीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की किन्तु उन्हे अपनी शिष्याएँ नही बनायी।

(६) प्लास्टिक, सेलूलाइड आदि के पात्र, पट्टी आदि कोई वस्तु अपनी नेश्राय मे न रखने का निर्णय लिया।

(७) जो उनके पास पात्र थे उनके अतिरिक्त नये पात्र ग्रहण करने का भी उन्होने त्याग कर दिया।

(८) एक दिन मे पाँच द्रव्य से अधिक द्रव्य ग्रहण न करना।

(९) प्रतिदिन कम से कम पच्चीसो गाथाओ की स्वाध्याय करना।

(१०) बारह महीने मे एक बार पूर्ण बत्तीस आगमो की स्वाध्याय करना।

इस प्रकार उन्होने अपने जीवन को अनेक नियम और उपनियमो से आबद्ध बनाया। उनके जीवन मे वैराग्य भावना अठखेलियाँ करती थी। यही कारण है कि अजमेर मे सन् १९६३ मे श्रमणी सघ ने मिलकर आपको चन्दनबाला श्रमणी सघ की अध्यक्षा नियुक्त किया और श्रमणसघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज समय-समय पर अन्य साध्वियो को प्रेरणा देते हुए कहते कि देखो, विदुषी महासती सोहनकुँवरजी कितनी पवित्र आत्मा है। उनका जीवन त्याग-वैराग्य का साक्षात् प्रतीक है। तुम्हे इनका अनुसरण करना चाहिए।

विदुषी महासती सोहनकुँवरजी जहाँ ज्ञान और ध्यान मे तल्लीन थी वहाँ उन्होने उत्कृष्ट तप की भी अनेक बार साधनाएँ की। उनके तप की सूची इस प्रकार हैं—

३३	३२	३१	२४	२३	२२	२१	२०	१७	
२	१	१	२	१	२	१	२	३	
१६	१५	१०	९	८	६	५	४	३	२
३	१३	१०	१०	५०	४०	४०	६५	६१	८०

1 इन तीनो के परिचय के लिए देखिए— 'वर्तमान युग की साध्वियाँ'।
—ले० राजेन्द्रमुनि साहित्यरत्न

जब भी आप तप करती तब पारणे मे तीन पौरसी करती थी या पारणे के दिन आयबिल तप करती जिससे पारणे मे औद्देशिक और नैमित्तिक आदि दोष न लगे।

बाह्य तप के साथ आन्तरिक तप की साधना भी आपकी निरन्तर चलती रहती थी। सेवा भावना आप मे कूट-कूट कर भरी हुई थी। आप स्व-सम्प्रदाय की साध्वियो की ही नही किन्तु अन्य सम्प्रदाय की साध्वियो की भी उसी भावना से सेवा करती थी। आपके अन्तर्मानस मे स्व और पर का भेद नही था।

आचार्य गणेशीलालजी महाराज की शिष्याएँ केसरकुवरजी, जो साइकिल से अक्सिडेण्ट होकर सडक पर गिर पडी थी, सन्ध्या का समय था, आप अपनी साध्वियो के साथ शौच भूमि के लिए गयी। वहाँ पर उन्हे दयनीय स्थिति मे गिरी हुई देखा। उस समय आपके दो चद्दर ओढने को थी, उनमे से आपने एक चादर की झोली बनाकर और सतियो की सहायता से स्थानक पर उठाकर लायी और उनकी अत्यधिक सेवा-सुश्रूषा की। इसी प्रकार महासती नाथकुवरजी आदि की भी आपने अत्यधिक सेवा सुश्रूषा की और अन्तिम समय मे उन्हे सथारा आदि करवाकर सहयोग दिया। आचार्य हस्तीमलजी महाराज की शिष्याएँ महासती अमरकुवर जी, महासती धनकुंवरजी, महासती गोगाजी आदि अनेक सतियो की सुश्रूषा की और सथारा आदि करवाने मे अपूर्व सहयोग दिया।

सन् १९६३ मे अजमेर के प्रागण मे श्रमण सघ का शिखर सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर वहाँ पर अनेक महासतियाँ एकत्रित हुईं। उन सभी ने चिन्तन किया कि सन्तो के साथ हमे भी एकत्रित होकर कुछ कार्य करना चाहिए। उन सभी ने वहाँ पर मिलकर अपनी स्थिति पर चिन्तन किया कि भगवान महावीर के पश्चात् आज दिन तक सन्तो के अधिक सम्मेलन हुए, किन्तु श्रमणियो का कोई भी सम्मेलन आज तक नही हुआ और न श्रमणियों की परम्परा का इतिहास भी सुरक्षित है। भगवान महावीर के पश्चात् साध्वी परम्परा का व्यवस्थित इतिहास न मिलना हमारे लिए लज्जास्पद है जबकि श्रमणो की तरह श्रमणियो ने भी आध्यात्मिक साधना मे अत्यधिक योगदान दिया है। इसका मूल कारण है एकता व एक समाचारी का अभाव। अत उन्होने श्री वर्द्धमान चन्दनबाला श्रमणी सघ का निर्माण किया और श्रमणियो के ज्ञान दर्शन चारित्र के विकास हेतु इक्कीस नियमो का निर्माण किया। उसमे पच्चीस प्रमुख साध्वियो की समिति का निर्माण हुआ। चन्दनबाला श्रमणी सघ की प्रवर्तिनी पद पर सर्वानुमति से आपश्री को नियुक्त किया गया जो आपकी योग्यता का स्पष्ट प्रतीक था।

राजस्थान प्रान्त मे रहने के बावजूद भी आपका मस्तिष्क संकुचित विचारो से ऊपर उठा हुआ था। यही कारण है कि सर्वप्रथम राजस्थान मे साध्वियो को सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के उच्चतम अध्ययन करने के लिए आपके अन्तर्मानस मे

भावनाएँ जागृत हुई। आपने अपनी सुशिष्या महासती कुसुमवतीजी, पुष्पावतीजी, चन्द्रावतीजी आदि को क्विन्स कालेज बनारस की, संस्कृत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्यरत्न प्रभृति उच्चतम परीक्षाएँ दिलवायी। उस समय प्राचीन विचार-धारा के व्यक्तियो ने आपश्री का डटकर विरोध किया कि साध्वियो को संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का उच्च अध्ययन न कराया जाय और न ही परीक्षा ही दिलवायी जाएँ। तब आपने स्पष्ट शब्दो मे कहा—साधुओ की तरह साध्वियो के भी अध्ययन करने का अधिकार है। आगम साहित्य मे साध्वियो के अध्ययन का उल्लेख है। युग के अनुसार यदि साध्वियाँ सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ का अध्ययन नही करेंगी तो आगम और उसके साहित्य को पढ नही सकती और बिना पढे आगमो के रहस्य समझ मे नही आ सकते। इसका विरोधियो के पास कोई उत्तर नही था। आप विरोध को विनोद मानकर अध्ययन करवाती रही। उसके पश्चात् स्थानकवासी परम्परा मे अनेक मूर्धन्य साध्वियाँ तैयार हुई। आज अनेक साध्वियाँ एम. ए., पी एच-डी भी हो गयी हैं। यह था आपका शिक्षा के प्रति अनुराग।

आपने अनेक व्यक्तियो को प्रतिबोध दिया। जब अन्य सन्त व सतीजन अपनी शिष्या बनाने के लिए उत्सुक रहती हैं तब आपकी यह विशेषता थी कि प्रतिबोध देकर दूसरो के शिष्य व शिष्याएँ बनाती थी। आपने अपने हाथो से ३०-३५ बालिकाओ और महिलाओ को दीक्षाएँ दी पर सभी को अन्य नामो से ही घोषित किया। अपनी ज्येष्ठ गुरु बहिन महासती मदनकुवरजी के अत्यधिक आग्रह पर उनकी आज्ञा के पालन हेतु तीन शिष्याओ को अपनी नेश्राय मे रखा। यह थी आप मे अपूर्व निस्पृहता। मुझे भी (देवेन्द्र मुनि) आद्य प्रतिबोध देने वाली आप ही थी।

आपके जीवन मे अनेक सद्गुण थे जिसके कारण आप जहाँ भी गयी, वहाँ जनता जनार्दन के हृदय को जीता। आपने अहमदाबाद, पालनपुर, इन्दौर, जयपुर अजमेर, जोधपुर, ब्यावर, पाली, उदयपुर, नाथद्वारा, प्रभृति अनेक क्षेत्रो मे वर्षावास किये, सेवा भावना से प्रेरित होकर अपनी गुरु बहिनो की तथा अन्य साध्वियो की वृद्धावस्था के कारण दीर्घकाल तक आप उदयपुर मे स्थानापन्न रही।

सन् १९६६ मे आपका वर्षावास पाली मे था। कुछ समय से आपको रक्तचाप की शिकायत थी, पर आपश्री का आत्मतेज अत्यधिक था जिसके कारण आप कही पर भी स्थिरवास नही विराजी। सन् १९६६ (स २०२३) मे भाद्र शुक्ला १३ को सथारे के साथ रात्रि मे आपका स्वर्गवास हुआ। आप महान प्रतिभासम्पन्न साध्वी थी। आपके स्वर्गवास से एक तेजस्वी महासती की क्षति हुई। आपका तेजस्वी जीवन जन-जन को सदा प्रेरणा देता रहेगा।

विदुषी महासती श्री सोहनकुवर महासती की प्रथम शिष्या विदुषी महासती कुसुमवतीजी हैं। उनकी चार शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी महासती चारित्रप्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी महासती दिव्यप्रभाजी, बालब्रह्मचारिणी दर्शनप्रभाजी और विदुषी

महासती पुष्पवतीजी द्वितीय शिष्या है। उनकी तीन शिष्याएँ हैं—बालब्रह्मचारिणी चन्द्रावतीजी, बालब्रह्मचारिणी, प्रियदर्शनाजी और बालब्रह्मचारिणी किरणप्रभाजी।

तृतीय सुशिष्या प्रज्ञामूर्ति महासती प्रभावतीजी थी। आप प्रबल प्रतिभा की धनी, आगम और दर्शन की गम्भीर ज्ञाता थी। आपने आचाराग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, विपाक, सूत्रकृताग, प्रभृति अनेक आगम कंठस्थ किये थे और साथ ही आगम के रहस्यो को समुद्घाटित करने वाले ४००-५०० थोकडे भी कठस्थ थे। जिससे आगम की गुरु गम्भीर ग्रन्थियो को अपनी प्रकृष्ट मेधा से उद्घाटित कर देती थी। नन्दीसूत्र के प्रति अत्यधिक अनुराग था। उसकी स्वाध्याय दिन मे अनेको बार करती थी। आपकी प्रवचन कला सहज थी। प्रवचन में आगम के रहस्यो को सहज और सुगम रूप से प्रस्तुत करती थी। और उसके लिए आगमिक उदाहरणो के साथ लौकिक जन-जीवन मे घटित होने वाली घटनाओं के माध्यम से स्पष्टीकरण करती, जिससे श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाता था। आप कवयित्री थी। आपकी कविता मे शब्दाडम्बर नही, पर भावों की प्रमुखता थी। जब कभी भी भावों का ज्वार उठता, वह सहज ही भाषा के रूप मे ढल जाता। कविता बनाने के लिए उन्हे प्रयास करने की आवश्यकता नही थी, वह सहज ही बन जाती। अरिहत देव की स्तुति करते हुए उनकी हृत्तत्री के तार इस प्रकार झनझनाये हैं—

"जय अरिहताण, अरिहंत देव भगवान्,
जय अरिहताणं, धर अरिहंतां रो ध्यान ·· ··
पाँच पदा मे प्रथम पद, मदरहित निरापद जान।

ज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए आगम की शब्दावली को अपनी सहज भाषा मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है मानो आगम का रस-पान ही कर लिया है। वह तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति कितनी सुबोध है—

"ज्ञान जो होगा नही तो, हो नही सकती दया।
आगमो मे वीर द्वारा, वचन फरमाया गया···
ज्ञान जीवाऽजीव का पहले जरूरी चाहिए।
फिर क्रियाएँ कीजिए, रस प्राप्त हो सकता नया।।

ध्यान जीवनोत्कर्ष की मगलमय साधना है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सर्वोच्च उपाय है। ध्यान कहने की नही करने की साधना है। और वह कला वही व्यक्ति बता सकता है, जिसने स्वय ध्यान की साधना सिद्ध की है। देखिए उन्ही के शब्दो मे—

"इस मन को स्थिर करना चाहो तो,
ध्यान साधना करना जी···   ··

स्थिर आसन हो, स्थिर वचन और तन
चंचल वातावरण नहीं।
स्थिर योग-साधना करके को फिर, स्थिर होते क्यों करण नहीं
स्थिर ध्यान-साधना हो जाने से, मरने से क्या डरना जी ॥१॥

उनके बनाये हुए शताधिक भजन हैं और एक-दो खण्ड-काव्य भी हैं। उनके द्वारा लिखित कहानी सग्रह 'जीवन की चमकती प्रभा' के नाम से प्रकाशित हुआ है और तीन-चार कहानी-सग्रह की पुस्तकें अप्रकाशित हैं। 'आगम के अनमोल मोती-तीन भाग' भी प्रकाशन के पथ पर हैं।

आपका जन्म वि० स० १९७० (सन् १९१३) मे गोगुन्दा ग्राम मे हुआ था। आपके पूज्य पिता श्री का नाम सेठ हीरालाल जी तथा मातेश्वरी का नाम प्यारी बाई था। आपके अन्तर्मानस मे वैराग्य-भावना प्रारम्भ से ही थी। किन्तु पारिवारिक जनो के आग्रह से आपका पाणिग्रहण उदयपुर निवासी श्री कन्हैयालाल जी बरडिया के सुपुत्र जीवन सिंह जी बरडियां के साथ सन् १९२८ मे सम्पन्न हुआ।

श्री जीवनसिंह जी बरडिया उदयपुर के एक लब्धप्रतिष्ठित कपड़े के व्यापारी थे। आपका बहुत ही लघुवय यानी चौदह वर्ष की उम्र मे प्रथम पाणिग्रहण एडवोकेट श्रीमान् अर्जुनलाल जी भसाली की सुपुत्री प्रेमकुमारी के साथ सम्पन्न हुआ। उनसे एक पुत्री हुई। उनका नाम सुन्दरकुमारी रखा गया। कुछ वर्षों के पश्चात् प्रेमकुमारी का देहावसान हो जाने से चौबीस वर्ष की उम्र मे आपका द्वितीय विवाह हुआ। आपके दो पुत्र हुए—एक का नाम वसन्तकुमार और दूसरे का नाम धन्नालाल रखा गया। वसन्तकुमार डेढ माह के बाद ही ससार से चल बसा। और २७ वर्ष की उम्र मे सथारे के साथ जीवनसिंह जी भी स्वर्गस्थ हो गये। पुत्र और पति के स्वर्गस्थ होने पर वैराग्यभावना जो प्रारम्भ मे अन्तर्मानस मे दबी हुई थी, वह साध्वी रत्न महासती श्री सोहनकुँवर जी के पावन उपदेश को सुनकर उद्बुद्ध हो उठी। जिस समय पति का स्वर्गवास हुआ, उस समय द्वितीय पुत्र धन्नालाल सिर्फ ११ दिन का ही था। अत महासतीजी ने कर्तव्य-बोध कराते हुए कहा—अभी तुम्हारी पुत्री सुन्दरकुमारी सिर्फ 7 वर्ष की है और बालक धन्नालाल कुछ ही दिन का है। पहले इनका लालन-पालन करो, सम्भव है, ये भी जिनशासन मे दीक्षित हो जायें। सद्गुरुणी जी की प्रेरणा से आप गृहस्थाश्रम मे रही। पर पूर्ण रूप से सासारिक भावना से उपरत। आपने वि० स० १९९८ (सन् १९४१ मे) मे अषाढ सुदी तृतीया को आर्हती दीक्षा ग्रहण की। वैराग्य अवस्था मे ही आपको आगम व दर्शन का इतना गहरा ज्ञान था कि दीक्षा लेते ही सद्गुरुणी जी की आज्ञा से सिंघाडापति होकर स्वतत्र वर्षावास किया। आपकी प्रवचन कला इतनी प्रभावोत्पादक थी कि श्रोता मत्र-मुग्ध रह जाते। आपने दीक्षा लेने के पूर्व अपनी पुत्री सुन्दर-

कुमारी और अपने पुत्र धन्नालाल की उत्कृष्ट वैराग्य भावना देख कर दीक्षा की अनुमति प्रदान की थी। पुत्री ने वि० स० १९९४ (सन् १९३७) मे माघ शुक्ला १३ को सद्गुरुणीजी श्री सोहनकुँवर जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की थी और सस्कृत, प्राकृत, न्याय और आव्य का उच्चतम अध्ययन किया। क्वीन्स कॉलेज-बनारस की व्याकरण, काव्य, मध्यमा, साहित्यरत्न (प्रयाग) तथा न्याय-काव्यतीर्थ आदि परीक्षायें समुत्तीर्ण की। और धन्नालाल ने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की और श्रमण जीवन का नाम 'देवेन्द्रमुनि' रखा गया। आपकी चार शिष्याएँ हुईं—१. महासती श्रीमतीजी २. महासती प्रेमकुँवरजी ३. महासती चन्द्रकुँवरजी और ४. महासती बालब्रह्मचारिणी हर्षप्रभाजी।

जीवन की सांध्य वेला तक धर्म की अखण्ड ज्योति जगाती हुई राजस्थान, मध्यभारत, मे आपका विचरण रहा। आपने अपने त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनो से व्याख्यान वाचस्पति गणेश मुनि जी "शास्त्री", रमेश मुनि जी "शास्त्री", राजेन्द्र मुनि जी "शास्त्री" और दिनेश मुनि जी "विशारद" को त्याग-मार्ग की ओर उत्प्रेरित किया। दि० २७ जनवरी १९८२ को आपका 'खैरोदा' ग्राम मे समाधि पूर्वक सथारे के साथ स्वर्गवास हुआ।

आपका भौतिक शरीर भले ही वर्तमान मे विद्यमान नही है पर आप यशः शरीर से आज भी जीवित हैं और भविष्य मे सदा जीवित रहेगी। काल की क्रूर छाया भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व एव कृतित्व को धूमिल नही बना सकती।

इस प्रकार प्रस्तुत परम्परा वर्तमान मे चल रही है। इस परम्परा मे अनेक परम विदुषी साध्वियाँ है।

परम विदुषी महासती सद्दाजी की एक शिष्या फत्तूजी हुई, जिनके सम्बन्ध मे हम पूर्व सूचित कर चुके हैं। महासती फत्तूजी का विहार क्षेत्र मुख्य रूप से मारवाड रहा। उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं और उन शिष्याओ की परम्पराओ मे भी अनेक शिष्याएँ समय-समय पर हुई। मारवाड के उस प्रान्त मे जहाँ स्त्रीशिक्षा का पूर्ण अभाव था, वहाँ पर उन साध्वियो ने त्याग-तप के साथ शिक्षा के क्षेत्र मे भी प्रगति की। क्योकि कई साध्वियो के हाथो की लिखी हुई प्रतियाँ प्राप्त होती हैं, जो उनकी शिक्षा-योग्यता का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। पर परिताप है कि उनके सम्बन्ध मे प्रयास करने पर भी मुझे व्यवस्थित सामग्री प्राप्त नही हो सकी। इस लिए अनुक्रम मे उनके सम्बन्ध मे लिखना बहुत ही कठिन है। जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसी के आधार से मैं यहाँ लिख रहा हूँ। यदि राजस्थान के अमर जैन ज्ञान भण्डार मे व्यवस्थित सामग्री मिल गयी तो बाद मे इस सम्बन्ध मे परिष्कार भी किया जा सकेगा।

फत्तूजी की शिष्या-परम्परा मे महासती आनन्दकुँवरजी एक तेजस्वी साध्वी

थी। उनकी बाईस शिष्याएँ थी जिनमें से कुछ साध्वियो के नाम प्राप्त हो सके हैं। महासती आनन्दकुंवरजी ने कब दीक्षा ली यह निश्चित सवत् नही मिल सका। उनका स्वर्गवास स० १९८१ पौप शुक्ला १२ को जोधपुर मे सयारे के साथ हुआ। महासती आनन्दकु वरजी के पास ही प० नारायणचन्दजी महाराज की मातेश्वरी राजाजी ने और नारायणदासजी महाराज के शिष्य मुलतानमलजी की मातेश्वरी नेनूजी ने दीक्षा ग्रहण की थी। महासती राजाजी का स्वर्गवास वि०स० १९७८ वैशाख सुदी पूनम को जोधपुर मे हुआ था।

महासती राजाजी की एक शिष्या रूपजी हुई थी जिन्हे थोकडे साहित्य का अच्छा अभ्यास था। महासती आनन्दकु वरजी की एक शिष्या महासती परतापाजी हुई जिनका वि० स० १९८३ मृगशिर वदी ११ को स्वर्गवास हुआ था। महासती फूलकु वरजी भी महासती आनन्दकुंवरजी की शिष्या थी और उनकी सुशिष्या महासती झमकूजी थी जिन्होंने अपनी पुत्री महासती कस्तूरीजी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। दोनो का जोधपुर मे स्वर्गवास हुआ। महासती कस्तूरीजी की एक शिष्या गवराजी थीं, वे बहुत ही तपस्विनी थी। उन्होंने अपने जीवन मे पन्द्रह मासखमण किये थे, और भी अनेक छोटी-मोटी तपस्याएँ की थी। उनका स्वर्गवास भी जोधपुर मे हुआ।

महासनी आनन्दकुँवरजी की बभूताजी, पन्नाजी, धापूजी, और किसनाजी अनेक शिष्याएँ थी। महासती किसनाजी की हरकूजी शिष्या हुई। उनकी समदाजी शिष्या हुई और उनकी शिष्या पानाजी हैं। आपका जन्म जालोर मे हुआ, पाणि-ग्रहण भी जालोर मे हुआ। गढसिवाना मे दीक्षा ग्रहण की और वर्तमान मे कारण-वशात् जालोर मे विराजित हैं।

इस प्रकार महासती आनन्दकुंवरजी की परम्परा मे वर्तमान मे केवल एक साध्वीजी विद्यमान हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परिवारो मे महासती पन्नाजी हुईं। उनकी शिष्या जसाजी हुई। उनकी शिष्या सोनाजी हुईं। उनकी भी शिष्याएँ हुईं, किन्तु उनके नाम स्मरण मे नही हैं।

महासती जसाजी की नैनूजी एक प्रतिभासम्पन्न शिष्या थी। उनकी अनेक शिष्याएं हुई। महासती वीराजी, हीराजी, ककूजी, आदि अनेक तेजस्वी साध्वियाँ हुई। महासती ककूजी की महासती हरकूजी, रामूजी आदि शिष्याएँ। हुई। महा-सती हरकूजी की महासती उमरावकुँवरजी, वक्सूजी (प्रेमकुँवरजी) विमलवतीजी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं। महासती उमरावकुँवरजी की शकुनकुँवरजी उनकी शिष्या सत्यप्रभा और उनकी शिष्या चन्द्रप्रभाजी आदि हैं। और महासती विमलवतीजी की दो शिष्याएँ महासती मदनकुंवरजी और महासती ज्ञानप्रभाजी है।

महासती फत्तूजी के शिष्या-परिवार मे महासती चम्पाजी भी एक तेजस्वी साध्वी थी। उनकी ऊदाजी, बायाजी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं। वर्तमान मे उनकी शिष्या-परम्परा मे कोई नही हैं।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परम्परा मे महासती दीपाजी, वल्लभकुँवरजी आदि अनेक विदुषी व सेवा-भाविनी साध्वियाँ हुईं। उनकी परम्परा मे सरलमूर्ति महासती सीताजी और श्री महासती गवराजी (उमरावकुँवरजी) आदि विद्यमान हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अमरसिहजी महाराज के समय से महासती भागाजी की जो साध्वी परम्परा चली उस परम्परा मे आज तक ग्यारह सौ से भी अधिक साध्वियाँ हुई हैं। किन्तु इतिहास लेखन के प्रति उपेक्षा होने से उनके सम्बन्ध मे बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इन सैकडो साध्वियो मे बहुत-सी साध्वियाँ उत्कृष्ट तपस्विनियाँ रही। अनेको साध्वियो का जीवनव्रत सेवा रहा। अनेको साध्वियाँ बडी ही प्रभावशालिनी थीं। मैं चाहता था कि इन सभी के सम्बन्ध मे व्यवस्थित एव प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत ग्रन्थ मे दूँ। पर राजस्थान के भण्डार जहाँ इनके सम्बन्ध मे प्रशस्तियो के आधार से या उनके सम्बन्ध मे रचित कविताओ के आधार से सामग्री प्राप्त हो सकती थीं, पर स्वर्णभूमि के. जी. एफ. जैसे सुदूर दक्षिण प्रान्त में बैठकर सामग्री के अभाव मे विशेष लिखना सम्भव नही था। तथापि प्रस्तुत प्रयास इतिहासप्रेमियों के लिए पथ-प्रदर्शक बनेगा इसी आशा के साथ मैं अपना लेख पूर्ण कर रहा हूँ। यदि भविष्य मे विशेष प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हुई तो इस पर विस्तार से लिखने का भाव है।

५

जैन मुनियों का साहित्यिक योगदान

भारतीय साहित्यरूपी सुमन-वाटिका को सजाने, सवारने का जितना कार्य जैन मनीषियो ने किया है, सभव है, उतना अन्य किसी सम्प्रदाय विशेष के विज्ञो ने नही किया। उन्होने ज्ञान विज्ञान, धर्म और दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्र मे जो रग-विरगे चटकीले फूल खिलाये हैं, वे अपने असीम सौन्दर्य और सौरभ से जन जन के मन को आकर्षित करते रहे हैं। जैन साहित्य जितना प्रचुर है, उतना ही प्राचीन भी। जितना परिमार्जित है उतना ही विषय-वैविध्यपूर्ण भी, और जितना प्रौढ़ है उतना ही विविध-शैली सम्पन्न भी। इसमे तनिक मात्र भी सशय नही कि जब कभी भी निष्पक्ष दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जाएगा, उसका मूल आधार जैन साहित्य ही होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक साधन सामग्री के अभाव मे यदि प्रस्तुत-साहित्य को 'धार्मिक नोट्स' मात्र कहकर उपेक्षित करते है तो वह साहित्य की कमी नही, पर अन्वेषण की ही कमी कही जाएगी, किन्तु वर्तमान अन्वेषण के तथ्यो के आधार से यह मानना ही पडेगा कि भारतीय चिन्तन के क्षेत्र मे जैन साहित्य का स्थान विशिष्ट है, जितना गौरव शुद्ध साहित्य का है उतना ही महत्व धर्म सम्प्रदाय के पास सुरक्षित चरित्र-साहित्य राशि का भी है।

जैन साहित्यकार अध्यात्मिक परम्परा के सृजक रहे हैं। आत्मलक्षी सस्कृति मे गहरी आस्था रखने के बावजूद भी वे देश, काल एव तज्जन्य परिस्थितियो के प्रति अनपेक्ष नही रहे हैं, उनकी ऐतिहासिक दृष्टि हमेशा खुली रही है। उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर के भी जन जन के कल्याण की मगलमय भावना से ओत-प्रोत रहा है। यही कारण है कि उनके द्वारा सम्प्रदाय मूलक साहित्य का निर्माण करने पर भी उसमे सास्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक तथ्य इतने अधिक हैं कि वैज्ञानिक पद्धति से उनका सर्वेक्षण किया जाए तो भारतीय इतिहास के कई तिमिराच्छन्न पक्ष आलोकित हो उठेंगे।

जैन लेखको ने मौलिक साहित्य के निर्माण के साथ ही विभिन्न ग्रन्थो पर सारगर्भित एव पाडित्यपूर्ण टीकाएँ लिखकर साहित्य की अविस्मरणीय सेवा क

सरक्षा की है, वह कभी भी विस्मृत नही की जा सकती। समीक्षको ने जैन साहित्य को पिष्टपेषण से पूर्ण माना है, यह सत्य है कि औपदेशिक वृत्ति के कारण जैन साहित्य मे विषयान्तर से परम्परागत बातो का विवेचन-विश्लेषण हुआ है, किन्तु सम्पूर्ण जैन साहित्य मे पिष्टपेषण नही है। और जो पिष्टपेषण हुआ है वह केवल लोकपक्ष की दृष्टि से ही नही, अपितु भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी बडा महत्वपूर्ण है। जैन लेखको ने भारतीय चिन्तन के नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक मान्यताओ को जन-भाषा की समुचित शैली मे ढालकर, पिरोकर, सवारकर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को उन्नत, समुन्नत, किया, उन्होने साहित्य परम्परा को सस्कृत भाषा के कूप-जल से निकाल कर भाषा के बहते प्रवाह मे अवगाहन कराया, अभिव्यक्ति के नये नये उन्मेष घोषित किये।

विभिन्न जैन परम्परा के प्रत्कृष्ट प्रतिभा सम्पन्न मुनिवरों ने जो साहित्य की अपूर्व सेवा की है, उसका सम्पूर्ण लेखा-जोखा लेने का न तो यहाँ अवसर ही है और न अवकाश ही, यहाँ तो प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध मे ही संक्षेप मे कुछ विचार अभिव्यक्त किये जा रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में एक ही कवि की रचनाओ का संग्रह नही किया गया है, अपितु विभिन्न परम्परा के मुनिवरो की रचनाओ का सुन्दर सकलन-आकलन किया गया है। प्रत्येक चरित्र मे त्याग वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा है। प्रत्येक चरित्र आत्मा को असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर एव मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की अपूर्व क्षमता रखता है।

भगवान् नेमिनाथ के चरित्र मे राजीमती के मुह से रथनेमि को फटकारते हुए साध्वाचार का निरूपण कर रहे हैं—

अमृत भोजन छोडने हो, मुनिवर !
तुसिया को कुण खाय ।
देवलोक रा सुख देखने हो मुनिवर !
नरक न आवे दाय ॥
खीर खाड भोजन करी हो मुनिवर,
वमियो कर्दम कीच ।
वमिया री वाछा करे हो, मुनिवर
काग कुत्ता के नीच ॥

राजीमती के हृदयग्राही उपदेश से रथनेमि पुन साधना के मार्ग मे स्थिर हो जाते हैं। उनकी हृत्तन्त्री के तार झनझना उठते है कि अयि राजमती ! तूने मुझे नरक मे गिरते हुए को बचा लिया, धन्य है तुझे—

नरक पडता राखियो हे राजुल,
इम बोल्यो रहनेम ।

मुझने थिरता कर दियो हे राजुल,
वचन-अकुश गज जेम ॥

महारानी देवकी के चरित्राकन मे कवि ने वात्सल्य रस के सयोग के चित्र अत्यन्त तन्मयता के साथ अकित किये हैं। महारानी देवकी के छहो पुत्र देवता के उपक्रम से मृत घोपित हो जाते है। श्री कृष्ण का लालन-पालन भी वह नही कर पाई जब उसे भगवान् नेमिनाथ के द्वारा यह सूचना मिलती है कि ये छहो मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं, तो उसका मातृत्व वरसाती नदी की तरह उमड पडता है। वह इन छहो मुनिवरो के पास जाती है। देखिए कवि श्री जयमल्ल जी के शब्दो मे सयोग वात्सल्य का सफल चित्रण—

तडाक से तूटी कस कचू तणी रे,
थण रे तो छूटी दूधाधार रे।
हिवडा माहे हर्ष मावे नही रे,

प्रस्तुत चरित्र मे वियोग वात्सल्य का वर्णन भी कम सुन्दर नही है। माता देवकी के हृदय की थाह वही माता पा सकती है जिसने सात पुत्रो को पैदा करके भी मातृत्व का सुख नही लिया। उसके हृदय मे शल्य की तरह यह वात चुभ रही है कि उसने अपने प्यारे लालो को हाथ पकडकर चलाया नही, रोते विलखते हुओ को बहलाया नही। वह अपने प्यारे पुत्र श्री कृष्ण से कहती है—

हू तुज आगल सू कहूँ कन्हैया,
वीतक दुख री वात रे, गिरधारी लाल।
दुखणी जग मे छे घणी कन्हैया,
पिण घणी दुखणी थारी मात रे ……
हालरियो देवा तणी, कन्हैया,
म्हारे हूस रही मन माय रे ॥
ओर्डणियो पहराव्यो नही, कन्हैया,
टोपी न दीधी माथ रे ।
काजल पिण सार्यो नही, कन्हैया,
फदिया न दीधा हाथ रे ॥

सच तो यह है महाकवि सूरदास जो वात्सल्य रस के सम्राट माने जाते हैं वे भी इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत नही कर सके हैं।

भगवान् नेमिनाथ के पावन प्रवचन को श्रवण कर गजसुकुमाल सयम के कटकाकीर्ण महामार्ग पर बढना चाहते है। माता देवकी ने ज्यो की यह वात सुनी त्योही वह मूर्च्छित होकर जमीन पर ढुलक पड़ती हैं।

वचन अपूरव एह, पुत्र ना सांभली-री माई।
घणी मूर्छा-गति खाय, धमके धरणी ढली ॥
खलकी हाथा री चूड,माथे रा केश वीखर्‌या री माई।
ओढण हुवो दूर, आखें आसू झर्‌या ॥

मेघ कुमार के चरित्र मे माता धारणी को मेघकुमार कहते हैं कि मा, भौतिक पदार्थ के सुख सच्चे सुख नहीं हैं, ये आकाश में उमड-घुमड कर आते हुए बादलो की तरह क्षणिक हैं। कवि कहता है—

ससार ना सुख सहु काचा,
इण लोक अर्थी जाणे साचा।
भोग विषय मे रह्या कलीजे,
मैं तो जाणी ए काचो माया,
विललावे जिम बादल छाया,
ऐसी जाणी कहो कुण रीझे ॥

इस प्रकार चरित-कथाओं मे कतिपय स्थल अत्यन्त मार्मिक बन पडे हैं।

भृगु पुरोहित के चरित्र मे जब भृगुपुरोहित अपनी विराट् सम्पत्ति का परित्याग कर श्रमण बनने के लिए प्रस्तुत होता है तब राजा उसकी सम्पत्ति को लेने के लिए उद्यत होता है। इस प्रसग पर महारानी कमलावती का उद्‌बोधन नितान्त मर्मस्पर्शी है। वह कहती है—राजन्! एक ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त सम्पत्ति को आप ग्रहण न करें। राजा का भाग्य बडा होता है। उच्छिष्ट आहार की इच्छा तो कौवा और कुत्ता ही करता है, तुम्हे प्रवृत्त वृत्ति शोभा नही देती है, यह कार्य लज्जास्पद है। सारे विश्व की विभूति भी प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णा शान्त नही हो सकती। एक दिन इस विराट सम्पत्ति को छोडकर एकाकी ही प्रस्थित होना पड़ेगा अत वीतराग धर्म को ग्रहण करो, वही त्राण और कल्याण का मार्ग है। कवि की कल्याणमयी वाणी सुनिए—

साभल महाराजा ब्राह्मण छाडी हो,
रिघ मती आदरो।
राजा का मोटा भाग।
वमिया आहार की हो।
वाछा कुण करे
करे छे कुतरो ने काग ॥
काग ने कुत्ता सरीखा
किम हुवो, नही प्रससवा जोग ॥

भृगु पुरोहित ऋध तज नीसर्यो

थे जाणो आसी मारे भोग।

एक दिन मरणो हो राजाजी यदा तदा,

छेडो नी काम विशेप ॥

वीजो तो तारण जग मे को नही,

तारे जिणजी रो धर्म एक ॥

रानी राजा से आगे चलकर कहती है कि एक तोते को रत्न-जडित पिंजडे में भले ही बन्द कर दिया जाय, पर वह उसे वंधन मानता है, वैसे ही राजमहलो को मैं बधन मानती हूँ। यहाँ मुझे तनिक मात्र भी आनन्द की उपलब्धि नहीं हो रही है, अतः मैं सयम को ग्रहण करना चाहती हूँ। वह राजा से नम्र निवेदन करती है—

रत्न-जडित हो राजा जी पिंजरो,

सुवो तो जाणे है फद।

इसडी पण हूँ थारा राज मे,

रति न पाँऊ आणद ॥

स्नेहरूपिया ताता तोडने,

और वधन सू रहसू दूर।

विरक्त थई ने सजम मैं ग्रहूँ,

थे भी पण होय जाओ सूर ॥

मुनि का वेश धारण करके भी यदि मन मे श्रमणत्व नही है, तो वह वेश भी कलकरूप है। आषाढ भूति अनगार के चरित्र मे आभूषणो से लदी हुई साध्वी को निहार कर आचार्य कहते हैं—

सुण महासती, या लखणासु जैन धर्म अति लाजे।

गुण नही रती, लोका माहे निर्ग्रन्थणी यू वाजे।

थू चाले छे चाला करती,

शुद्ध ईर्यासमिति नही धरती।

लोक लाज सु नही डरती,

थू लावे गोचरी झरझरती ॥

कपट सहित साधना, साधना नही, अपितु विराधना है। वह आत्म-वचना है। अनन्त काल से आत्मा इस प्रकार साधना करता रहा, किन्तु जीवनोत्थान नही हुआ, अतः कवि कह रहा है—

कपट क्रिया से नही तरिया,
बाज आचारी पेट भरिया ।
इसा साग तो बहु करिया,
महिमा कारण करि माया ॥
भोला नर ने भरमाया,
स्यू कपट धरम प्रभु फरमाया ॥

इस प्रकार चन्दन की सौरभ की सभी रचनाए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक पक्ष को समुन्नत बनाने की पुनीत प्रेरणा प्रदान करती हैं। काव्य के भाव-पक्ष और कलापक्ष दोनो ही दृष्टियो से यह सग्रह मूल्यवान है। राजस्थानी साहित्य के क्षेत्र मे चन्दन की सौरभ अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगी, ऐसी आशा है।

—[चन्दन की सौरभ-प्रस्तावना से]

६

राजस्थान के प्राकृत श्वेताम्बर साहित्यकार

भारतीय इतिहास मे राजस्थान का गौरवपूर्ण स्थान सदा से रहा है। राजस्थान की धरती के कण-कण मे जहाँ वीरता और शौर्य अगडाई ले रहा है, वहाँ साहित्य और सस्कृति की सुमधुर स्वर लहरियाँ भी झनझना रही हैं। राजस्थान के रण-बाकुरे वीरो ने अपनी अनूठी आन-बान और शान की रक्षा के लिए हँसते हुए जहाँ बलिदान दिया है, वहाँ वैदिक परम्परा के भावुक भक्त कवियो ने व श्रमण-सस्कृति के श्रद्धालु श्रमणो ने मौलिक व चिन्तन-प्रधान साहित्य सृजन कर अपनी प्रताप पूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया है। रणथम्भोर, कुम्भलगढ, चित्तोड, भरतपुर, माडोर, जालोर जैसे विशाल दुर्ग जहाँ उन वीर और वीराङ्गनाओ की देश-भक्ति की गोरव-गाथा को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ जैसलमेर, नागोर, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, अजमेर, आमेर, डूँगरपुर प्रभृति के विशाल ज्ञान-भण्डार साहित्य-प्रेमियो के साहित्यानुराग को अभिव्यञ्जित करते हैं।

राजस्थान की पावन-पुण्य भूमि अनेकानेक मूर्धन्य विद्वानो की जन्मस्थली और साहित्य-निर्माण स्थली रही है। उन प्रतिभा-मूर्ति विद्वानो ने साहित्य की विविध विधाओ मे विपुल साहित्य का सृजन कर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है। उनके सम्बन्ध मे सक्षेप रूप मे भी कुछ लिखा जाय, तो एक विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, मुझे उन सभी राजस्थानी विद्वानो का परिचय नही देना है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के प्राकृत साहित्यकारो का अत्यन्त सक्षेप मे परिचय प्रस्तुत करना है।

श्रमण सस्कृति का श्रमण घुमक्कड है, हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक पैदल घूम-घूमकर जन-जन के मन मे आध्यात्मिक, धार्मिक व सास्कृतिक जागृति उद्बुद्ध करता रहा है। उसके जीवन का चरम व परम लक्ष्य स्व-कल्यायण के साथ-साथ पर-कल्याण भी रहा है। स्वान्त सुखाय एव बहुजन हिताय साहित्य का सृजन भी करता रहा है।

श्रमणो के साहित्य को क्षेत्र विशेष की सकीर्ण सीमा मे आवद्ध करना मैं उचित नही मानता। क्योकि श्रमण किसी क्षेत्र विशेष की धरोहर नही है। कितने ही श्रमणो की जन्मस्थली राजस्थान रही है, साहित्य-स्थली गुजरात रही है। कितनो

की ही जन्म-स्थली गुजरात है, तो साहित्य-स्थली राजस्थान । कितने ही साहित्यिको के सम्बन्ध मे इतिहास वेत्ता संदिग्ध हैं, कि वे कहाँ के हैं, और कितनी ही कृतियो के सम्बन्ध मे भी प्रशस्तियो के अभाव मे निर्णय नही हो सका कि वे कहाँ पर बनाई गई हैं । प्रस्तुत निबन्ध मे मैं उन साहित्यकारो का परिचय दूँगा जिनकी जन्म-स्थली अन्य होने पर भी अपने ग्रन्थ का प्रणयन जिन्होंने राजस्थान मे किया है ।

श्रमण-सस्कृति के श्रमणो की यह एक अपूर्व विशेषता रही है कि अध्यात्म की गहन साधना करते हुए भी उन्होने प्रान्तवाद भाषावाद, और सम्प्रदायवाद को विस्मृत कर विस्तृत साहित्य की साधना की है । उन्होंने स्वयं एकचित्त होकर हजारो ग्रन्थ लिखे हैं, साथ ही दूसरो को भी लिखने के लिए उत्प्रेरित किया है । कितने ही ग्रन्थो के अन्त मे ऐसी प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती है, जिनमे अध्ययन-अध्यापन की लिखने लिखाने की प्रवल प्रेरणा प्रदान की गई है । जैसे—

"जो पढइ पढावई एक चित्तु,
सइ लिहइ लिहावइ जो णिरत्तु ।
आयरण्ण भण्णइ सो पसत्थु,
परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु ॥[1]

आचार्य हरिभद्र

हरिभद्रसूरि राजस्थान के एक ज्योतिर्धर नक्षत्र थे । उनकी प्रबल प्रतिभा से भारतीय साहित्य जगमगा रहा है, उनके जीवन के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम उल्लेख कहावली मे प्राप्त होता है । इतिहासवेत्ता उसे विक्रम की १२ वी शती के आस-पास की रचना मानते हैं । उसमे हरिभद्र की जन्मस्थली के सम्बन्ध मे "पिवंगुई बभपुणी" ऐसा वाक्य मिलता है[2] । जबकि अन्य अनेक स्थलो पर चित्तौड-चित्रकूट का स्पष्ट उल्लेख है[3] । पडितप्रवर सुखलाल जी का अभिमत है कि 'बभपुणी' ब्रह्म-चित्तौड का ही एक विभाग रहा होगा, अथवा चित्तौड के सन्निकट का कोई कस्बा-होगा[4] । उनकी माता का नाम गगा और पिता का नाम शकरभट्ट था[5] । सुमति

---

1 श्रीचन्द्रकृत रत्नकाण्ड

2 पाटण सघवी के—जैन भण्डार मे वि० स० १४९७ की हस्तलिखित ताड-पत्रीय पोथी खण्ड २, पत्र-३००

3 (क) उपदेशपद मुनि श्रीचन्द्रसूरि की टीका वि० स० ११७४
(ख) गणधर सार्धशतक श्री सुमतिगणिकृत वृत्ति
(ग) प्रभावक चरित्र ९ श्रृग वि० स० १३३४.
(घ) राजशेखर कृत प्रबन्ध कोष वि० स० १४०५

4 समदर्शी आचार्य हरिभद्र पृ० ६

5 'सकरो नाम भट्टो तस्स गगा भट्टिणी' 'तीसे हरिभद्दो नाम पडिओ पुत्तो ।'
—कहावली, पत्र ३००

गणि ने गणधरसार्धशतक मे हरिभद्र की जाति ब्राह्मण बताई है।[1] प्रभावक चरित मे उन्हें पुरोहित कहा गया है।[2] आचार्य हरिभद्र के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो के विभिन्न मत थे, किन्तु पुरातत्ववेत्ता मुनि श्री जिनविजय जी ने प्रबल प्रमाणो से यह सिद्ध कर दिया है कि वीर सम्वत् ७५७ से ८२७ तक उनका जीवन काल है। अब इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का मतभेद नही रहा है।[3] उन्होने व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र और दर्शन का गम्भीर अध्ययन कहाँ पर किया था, इसका उल्लेख नही मिलता है। वे एक बार चित्तौड के मार्ग से जा रहे थे, उनके कानो मे एक गाथा पडी।[4]

गाथा प्राकृत भाषा की थी। सक्षिप्त और सकेतपूर्ण अर्थ लिए हुई थी। अत उसका मर्म उन्हे समझ मे नही आया। अन्होंने गाथा का पाठ करने वाली साध्वी से उस गाथा के अर्थ को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्त का परिचय कराया। प्राकृत साहित्य और जैन-परम्परा का प्रामाणिक और गम्भीर अभ्यास करने के लिए उन्होने जैनेन्द्री दीक्षा धारण की और उस साध्वी के प्रति अपने हृदय की अनन्त श्रद्धा को, स्वय को उनका धर्मपुत्र बताकर व्यक्त की है।[5] वे गृहस्थाश्रम मे सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। श्रमण बनने पर प्राकृत भाषा का गहन अध्ययन किया। दशवैकालिक, आवश्यक, नन्दी, अनुयोग-द्वार, प्रज्ञापना, ओघनिर्युक्ति, चैत्य-वन्दन, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम और पिण्ड निर्युक्ति आदि आगमो पर सस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी। आगम साहित्य के वे प्रथम टीकाकार हैं। अष्टक प्रकरण, धर्मबिन्दु, पञ्चसूत्र, व्याख्या भावना सिद्धि, लघुक्षेत्र समासवृत्ति, वर्ग केवली सूत्र वृत्ति, हिंसाष्टक, अनेकान्त जयपताका, अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्तसिद्धि, तत्वार्थसूत्रलघुवृत्ति, द्विज वदन-चपेटा, न्याय प्रवेश टीका, न्यायावतारवृत्ति, लोकतत्व निर्णय शास्त्रवार्ता समुच्चय, सर्वज्ञ सिद्धि, षड्दर्शन समुच्चय ,स्याद्वाद कुचोध-परिहार, योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, षोडशक प्रकरण, वीरस्तव, ससार दावानल स्तुति, प्रभृति अनेक मौलिक-ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत भाषा मे रचे हैं। प्राकृत भाषा मे भी उन्होने विपुल साहित्य का सृजन किया है। संस्कृतवत ही प्राकृत भापा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होने धर्म, दर्शन,

---

1 एव सो पडितगव्वमुव्वहमाणो हरिभट्टो नाम माहणो।'

2 प्रभावक चरित्र शृ ग ९, श्लोक ८

3 जैन साहित्य सशोधक वर्ष १ अक-१

4 'चक्किदुग हरिपणग, पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की-केसव दु चक्की, केसी अ चक्की अ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-४२१

5 धर्मतो याकिनी महत्तरा सूनु , —आवश्यकवृत्ति

योग, कथा, ज्योतिष और स्तुति प्रभृति सभी विषयों मे ग्रन्थ लिखे हैं। जैसे—उपदेशपद, पञ्चवस्तु, पचाशक, वीस विंशिकाएँ, श्रावक धर्मविधिप्रकरण, सम्बोधप्रकरण, धर्मसग्रहणी, योग विंशिका, योग शतक, धूर्त्ताख्यान, समराइच्चकहा, लग्नशुद्धि, लग्न कुण्डलियाँ आदि।

समराइच्चकहा प्राकृत भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति है। जो स्थान संस्कृत साहित्य मे कादम्बरी का है, वही स्थान प्राकृत मे 'समराइच्चकहा' का है। यह ग्रन्थ जैन महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखा गया है, अनेक स्थलो पर शौरसेनी भाषा का भी प्रभाव है।

'धुत्तेखाण' हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय रचना है। निशीथचूर्णि की पीठिका मे धूर्त्ताख्यान की कथाएँ सक्षेप मे मिलती हैं। जिनदासगणि महत्तर ने वहाँ यह सूचित किया है, कि विशेष जिज्ञासु 'धूर्त्ताख्यान' मे देखें। इससे यह स्पष्ट है कि जिनदासगणि के सामने 'धूत्ताक्खाण' की कोई प्राचीन रचना रही होगी, जो आज अनुपलब्ध है। आचार्य हरिभद्र ने निशीथचूर्णि के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ मे पुराणो मे वर्णित अतिरञ्जित कथाओ पर करारे व्यग्य करते हुए उनकी अयथार्थता सिद्ध की है।[1]

भारतीय कथा साहित्य मे शैली की दृष्टि से इसका मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली मे इस प्रकार की अन्य कोई भी रचना उपलब्ध नही होती। यह साधिकार कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्योपहास की इतनी श्रेष्ठ रचना किसी भी भाषा मे नही है। धूर्तों का व्यग्य प्रहार ध्वसात्मक नही अपितु निर्माणात्मक है।

कहा जाता है कि आचार्य हरिभद्र ने १४४४ ग्रन्थो की रचना की थी। किन्तु वे सभी ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं। डा० हर्मन जेकोबी, लॉयमान विन्टर्निट्स, प्रो० सुवाली और शुब्रिंग प्रभृति अनेक पाश्चात्य विचारको ने हरिभद्र के ग्रन्थो का सम्पादन और अनुवाद भी किया है।[2] उनके सम्बन्ध मे प्रकाश भी डाला है। इससे भी उनकी महानता का सहज ही पता लग सकता है।

उद्योतनसूरि

उद्योतन सूरि श्वेताम्बर परम्परा के एक विशिष्ट मेधावी सन्त थे। उनका जीवनवृत्त विस्तार से नही मिलता। उन्होने वीरभद्रसूरि से सिद्धान्त की शिक्षा प्राप्त की थी और हरिभद्रसूरि से युक्तिशास्त्र की। कुवलयमाला प्राकृत साहित्य

---

1 सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित।

2 देखिए—डॉ० हर्मन जेकोबी ने समराइच्चकहा का सम्पादन किया, प्रो० सुवाली ने योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, लोकतत्त्व निर्णय, एव पड्दर्शन समुच्चय का सम्पादन किया और लोकतत्त्व निर्णय का इटालियन भाषा मे अनुवाद किया।

का उनका एक अनुपम ग्रन्थ है।[1] गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसाद-पूर्ण रचना चम्पू शैली मे लिखी गई है। महाराष्ट्री प्राकृत के साथ इसमे पैशाची, अपभ्र श व देशी भाषाओ के साथ कही-कही पर संस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। प्रेम और शृंगार के साथ वैराग्य का भी प्रयोग हुआ है। सुभाषित, मार्मिक प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि भी यत्र-तत्र दिखलाई देती है। जिससे लेखक के विशाल अध्ययन व सूक्ष्म दृष्टि का पता लगता है। ग्रन्थ पर बाण की कादम्बरी, त्रिविक्रम की दमयन्ती कथा और हरिभद्रसूरि के 'समराइच्चकहा' का स्पष्ट प्रभाव है। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक ने ई० सन् ७७९ मे जावालिपुर, जिसका वर्तमान मे 'जालोर' नाम है, वहाँ पर पूर्ण किया है।[2]

जिनेश्वरसूरि

जिनेश्वरसूरि के नाम से जैन सम्प्रदाय मे अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य हुए है। प्रस्तुत आचार्य का उल्लेख धनेश्वरसूरि,[3] अभयदेव,[4] और गुणचन्द्र ने[5] युगप्रधान के रूप मे किया है। जिनेश्वरसूरि का विहार-स्थल मुख्य रूप से राजस्थान, गुजरात और मालवा रहा है। इन्होंने सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ मे रचनाएँ की। उसमे हरिभद्रकृत अष्टक पर वृत्ति, पचलिगी प्रकरण, वीर चरित्र, निर्वाण लीलावती कथा, षट्स्थानक प्रकरण, और कहाणय कोष मुख्य हैं। कहाणय कोष मे ३० गाथाएँ है और प्राकृत मे टीका है। जिसमे छत्तीस प्रमुख कथाएँ है। कथाओ मे उस युग की समाज, राजनीति और आचार-विचार का सरस चित्रण किया गया है। समासयुक्त पदावली, अनावश्यक शब्द आडम्बर और अलकारो की भरमार नही है। कही-कही पर अपभ्र श भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी निर्वाण लीलावती कथा भी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठ रचना है। उन्होंने यह कथा स० १०८२ और १०९५ के मध्य मे बनाई है। पद-लालित्य, श्लेष और अलकारो से यह विभूषित है। प्रस्तुत ग्रन्थ का श्लोकबद्ध सस्कृत भाषान्तर जैसलमेर के भण्डार मे उपलब्ध हुआ है। मूलकृति अभी तक अनुपलब्ध है। प्राकृत भाषा मे उनकी एक अन्य रचना 'गाथाकोष' भी मिलती है।

---

1 सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई वि० स० २००५, मुनि जिनविजयजी।

2 तुणमलध जिण-भवण, मणहर सावयाउल विसभं।
जावालिउर अट्ठावय व अह अत्थि पुहइए॥
—कुवलयमाला प्रशस्ति, पृ० २८२.

3 सुरसुन्दरीचरिय की अन्तिम प्रशस्ति गाथा २४० से २४८

4 भगवती, ज्ञाता, समवायाङ्ग स्थानाङ्ग, औपपातिक की वृत्तियो मे प्रशस्तियाँ।

5 महावीरचरिय प्रशस्ति।

महेश्वरसूरि

महेश्वरसूरि प्रतिभासम्पन्न कवि थे। वे संस्कृत-प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका समय ई० सन् १०५२ से पूर्व माना गया है। णाणपञ्चमीकहा[1] इनकी एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमे देशी शब्दो का अभाव है। भाषा मे लालित्य है, यह प्राकृत भाषा का श्रेष्ठ काव्य है। महेश्वरसूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे।[2]

जिनदत्तसूरि

जिनदत्त जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। अपने लघु गुरुबन्धु अभयदेव की अभ्यर्थना को सम्मान देकर सवेग रंगशाला नामक ग्रन्थ की रचना की। रचना का समय वि० स० ११२५ है। नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव के शिष्य जिनवल्लभसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ का सशोधन किया। सवेगभाव का प्रतिपादन करना ही ग्रन्थ का उद्देश्य रहा है। ग्रन्थ मे सर्वत्र शान्तरस छलक रहा है।

जिनप्रभसूरि

जिनप्रभसूरि विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य थे। इन्होने १३२६ मे जैन दीक्षा ग्रहण की और आचार्य जिनसिंह ने इन्हे योग्य समझ कर १३४१ मे आचार्य पद प्रदान किया। दिल्ली का सुल्तान मुहम्मद तुगलक बादशाह इनकी विद्वत्ता और इनके चमत्कारपूर्ण कृत्यो से अत्यधिक प्रभावित था। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'कातन्त्रविभ्रमवृत्ति, श्रेणिक चरित्र, द्वयाश्रय काव्य', 'विधिमार्गप्रपा' आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की। विधिप्रपा प्राकृत साहित्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है। श्रीयुत् अगरचन्दजी नाहटा का अभिमत है कि ७०० स्तोत्र भी इन्होने बनाये। वे स्तोत्र सस्कृत, प्राकृत, देश्य भाषा के अतिरिक्त भाषा मे भी लिखे हैं। वर्तमान मे इनके ५५ स्तोत्र उपलब्ध होते है।[3]

नेमिचन्द्रसूरि

नेमिचन्द्रसूरि बृहद्गच्छीय उद्योतनसूरि के प्रशिष्य और आम्रदेव के शिष्य थे। आचार्य पद प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। 'महावीर-

---

1 सम्पादक—अमृतलाल, सवचन्द गोपाणी, प्रकाशन—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई संवत् १९४९.

2 दो पक्खुज्जोयकरो दोसासगेणवज्जिओ अमओ।
सिरि सज्जण उज्जाओ, अउवच्च दुव्वअक्खत्यो ॥
सीसेण तस्स कहिया दस विकहाणा इमेउपचमिए।
सूरिमहेसरएण भवियाण बोहणट्ठाए ॥

—णाण—१०।४९६-४९७.

3 विधिप्रपा—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—बम्बई से प्रकाशित।

चरिय' इनकी पद्यमयी रचना है। वि० स० ११४१ मे इन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ रचना की। इसके अतिरिक्त 'अक्खाणयमणिकोस' (मूल), उत्तराध्ययन की सस्कृत टीका, आत्मबोधकुलक प्रभृति इनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

गुणपालमुनि

गुणपालमुनि श्वेताम्बर परम्परा के नाइल गच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य थे। 'जम्बूचरिय' इनकी श्रेष्ठ रचना है।[1] ग्रन्थ की रचना कब की, इसका सकेत ग्रन्थकार ने नही किया है, किन्तु ग्रन्थ के सम्पादक मुनिश्री जिनविजयजी का अभिमत है कि ग्रन्थ ग्यारहवी शताब्दी मे या उससे पूर्व लिखा गया है। जैसलमेर के भण्डार से जो प्रति उपलब्ध हुई है, वह प्रति १४वी शताब्दी के आसपास की लिखी हुई है।

जम्बूचरिय की भाषा सरल और सुबोध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। इस पर 'कुवलयमाला' ग्रन्थ का सीधा प्रभाव है। यह एक ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि ने सिद्धातो का अध्ययन वीरभद्र नाम के आचार्य के पास किया था। उन्होने वीरभद्र के लिए लिखा "दिन्नजहिच्छियफलओ अवरो कप्परुक्खोव्व'। गुणपाल ने अपने गुरु प्रद्युम्नसूरि को वीरभद्र का शिष्य बतलाया है। गुणपाल ने भी 'परिचिंतियदिन्नफलो आसी सो कप्परुक्खो' ऐसा लिखा है, जो उद्योतनसूरि के वाक्य प्रयोग के साथ मेल खाता है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योतनसूरि के सिद्धान्त गुरु वीरभद्राचार्य और गुणपालमुनि के प्रगुरु वीरभद्रसूरि ये दोनो एक ही व्यक्ति होगे। यदि ऐसा ही है, तो गुणपालमुनि का अस्तित्व विक्रम की ९वी शताब्दी के आसपास है।

गुणपालमुनि की दूसरी रचना 'रिसिकन्ता-चरिय' है जिसकी अपूर्ण प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर पूना मे है।

समयसुन्दरगणि

ये एक वरिष्ठ मेधावी सन्त थे। तर्क, व्याकरण, साहित्य के ये गम्भीर विद्वान् थे। उनकी अद्भुत प्रतिभा को देखकर बड़े-बडे विद्वानो की अगुली भी दाँतो तले लग जाती थी। सवत् १६४९ की एक घटना है—बादशाह अकबर ने कश्मीर पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिए प्रस्थान किया। प्रस्थान के पूर्व विशिष्ट विद्वानो की एक सभा हुई। समयसुन्दरजी ने उस समय विद्वानो के समक्ष एक अद्भुत ग्रन्थ उपस्थित किया। उस ग्रन्थ के सामने आज दिन तक कोई भी ग्रन्थ ठहर नही सका है। "राजानो ददते सौख्यम्" इस संस्कृत वाक्य के आठ अक्षर हैं, और एक-एक अक्षर के एक-एक लाख अर्थ किये गये हैं। बादशाह अकबर और अन्य सभी विद्वान् प्रतिभा के इस अनूठे चमत्कार को देखकर नत-मस्तक हो गये। अकबर

---

1 विधिप्रपा—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—बम्बई से प्रकाशित।

वालटेयर,[1] एबरक्रोम्बी[2], वाल्टर पेपर[3], सी० एम० बावरा[4], डब्ल्यू० पी० केर[5], एम० डिक्सन[6], टिलयार्ड[7] प्रभृति पाश्चात्य चिन्तको ने महाकाव्य के विविध पहलुओ पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। विस्तार भय से हम उन सब पर यहाँ चिन्तन न कर सक्षेप मे यही कहना चाहेगे कि प्राय. सभी मूर्धन्य मनीषियो ने मूल-तत्त्व एक सदृश माना है, यत्किचित् अन्तर महाकाव्य के बाह्य रूप को लेकर ही है। मुख्य तथ्य पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनो मे समान हैं।

अतीतकाल से ही जैन मनीषीगण गीर्वाण गिरा मे काव्यो का सृजन करते रहे हैं क्योकि अनुयोगद्वार मे[8] प्राकृत और सस्कृत दोनो ही भाषाओ को समान रूप से महत्व दिया है। इसलिए जैनाचार्यों की लेखनी दोनो भाषाओं मे अविराम गति से चलती रही। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियो मे सस्कृत भाषा का अध्ययन अत्यधिक आवश्यक माना जाने लगा। विज्ञो की मान्यता है कि एकादश अगो की भाषा अर्धमागधी थी और पूर्वों की भाषा सस्कृत थी। इस दृष्टि से सस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओं को जैन साहित्य में गौरवपूर्ण पद मिला है। जैन मनी-षियो ने प्राकृत और अपभ्रंश भाषा मे विराट साहित्य का सृजन किया तो संस्कृत भाषा मे भी विपुल साहित्य सृजन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। यह सत्य है कि जैन परम्परा अध्यात्मप्रधान रही है। उसका मुख्य लक्ष्य मोक्ष रहा है और मोक्ष को प्राप्त करने के लिए धार्मिक साधना आवश्यक है। इस दृष्टि से जैन साहित्य मे त्याग, वैराग्य के स्वर अधिक मुखरित हुए है।

जैन काव्य साहित्य की अनेक विशेषताएँ है। इसकी कथावस्तु मे विस्तार की अपेक्षा गहनता अधिक होती है। सूक्ष्म भावो का आख्यान और वर्णन के साथ ही विश्लेषण प्रधान होता है। कथाओ मे पूर्वजन्मो की कथाएँ चमत्कार उत्पन्न करने वाली होती है जो किसी पक्ष का मार्मिक उद्‌घाटन करती है। शृंगारिक

---

1 डा० शभुनाथसिंह कृत 'हिन्दी महाकाव्य के स्वरूप-विकास' से उद्धृत, पृ० १०४।

2 Abercrombie, The Epic, Page 40-41.

3 Appreciation, Page 36.

4 C. M Bowara, From Virgil to Milton, Page 1.

5 W. P Ker 'Epic & Romance' Page 17.

6 M. Dixon—'English Epic & Heroic Poetry', Page 9.

7 सरस्वती संवाद, महाकाव्य विशेषाक पृ० ३९-४०।

8 सक्कया पायया चेव भणिईओ होंति दोण्णि वा।
सरमण्डलम्मि गिज्जते पसत्था इसिभासिया ॥
—अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र १२७

वाचक कल्याणतिलक

वाचक कल्याणतिलक ने छप्पन गाथाओ मे कालकाचार्य की कथा लिखी।[1]

हीरकलश मुनि

हीरकलशमुनि ने सवत् १६२१ मे 'जोइस-हीर' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ज्योतिष की गहराई को प्रकट करता है।[2]

मानदेव सूरि

मानदेव सूरि का जन्म नाडोल मे हुआ। उनके पिता का नाम धनेश्वर व माता का नाम धारिणी था। इन्होने 'शाति स्तव' और 'तिजय पहुत्त' नामक स्तोत्र की रचना की।[3]

नेमिचन्दजी भण्डारी

नेमिचन्दजी भण्डारी ने प्राकृत भाषा मे 'षष्टिशतक प्रकरण' जिनवल्लभ-सूरि गुण वर्णन एव पार्श्वनाथ स्तोत्र आदि रचनाएँ बनाई हैं।[4]

स्थानकवासी मुनि

राजस्थानी स्थानकवासी मुनियो ने भी प्राकृत भाषा मे अनेक ग्रन्थो की रचनाएँ की हैं। किन्तु साधनाभाव से उन सभी ग्रन्थकारो का परिचय देना सम्भव नही है। श्रमण हजारीमल जिनकी जन्मस्थली मेवाड थी उन्होंने 'साहुगुण-माला' ग्रन्थ की रचना की थी। जयमल सम्प्रदाय के मुनि श्री चैनमल जी ने भी श्रीमद्गीता का प्राकृत मे अनुवाद किया था। पण्डित मुनि श्री लालचन्द जी "श्रमणलाल" ने भी प्राकृत मे अनेक स्तोत्र आदि बनाए है। पं० फूलचन्द्र जी म० "पुप्फ भिक्खु' ने सुत्तागमे का सम्पादन किया और अनेक लेख आदि प्राकृत मे लिखे हैं। राजस्थान केसरी, पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी म० ने भी प्राकृत मे स्तोत्र और निबन्ध लिखे हैं।

आचार्य श्री घासीलालजी

आचार्य घासीलाल जी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न सन्तरत्न थे। उनका

---

1 तीर्थंकर वर्ष ४, अक १, मई १९७४।

2 मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि, अष्ट शताब्दी स्मृति ग्रन्थ 'जोइसहीर'—महत्वपूर्ण खरतरगच्छीय ज्योतिष ग्रन्थ लेख, पृष्ठ ९५।

2 (क) प्रभावक चरित्र—भाषान्तर, पृष्ठ १८७।
—प्रकाशक—आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, वि० स० १९८७ मे प्रकाशित।
(ख) जैन परम्परा नो इतिहास भाग-१ पृ० ३५९ से ३६१।

4 मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी स्मृति ग्रन्थ।

जन्म सम्वत् १६४१ मे जसवन्तगढ (मेवाड) मे हुआ। उनकी माँ का नाम विमला बाई और पिता का नाम प्रभुदत्त था। जवाहराचार्य के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपने बत्तीस आगमो पर संस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी। और शिवकोश नानार्थ, उदय सागर कोश, श्रीलाल नाममाला कोश, आर्हत् व्याकरण, आर्हत् लघु व्याकरण, आर्हत् सिद्धान्त व्याकरण, शाति सिन्धु महाकाव्य, लोकाशाह महाकाव्य, जैनागम तत्त्व दीपिका, वृत्त-बोध, तत्त्व प्रदीप, सूक्ति सग्रह, गृहस्थ कल्पतरु, पूज्य श्रीलाल काव्य, नागाम्बर मञ्जरी, लवजी मुनि काव्य, नव-स्मरण, कल्याण मगल स्तोत्र, वर्धमान स्तोत्र आदि सस्कृत भाषा मे मौलिक ग्रन्थो का निर्माण किया। तत्वार्थ सूत्र, कल्पसूत्र और प्राकृत व्याकरण आदि अनेक ग्रन्थ प्राकृतभाषा मे भी लिखे है। अन्य अनेक सन्त प्राकृत भाषा मे लिखते हैं।

आचार्य श्री आत्मारामजी

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज प्राकृत, सस्कृत के गहन विद्वान् और जैन आगमो के तलस्पर्शी अध्येता थे। आपका जन्म पजाब मे हुआ, विहार-क्षेत्र भी पंजाब रहा। प्रस्तुत लेख मे विशेष प्रसग न होने से आपकी प्राकृत रचनाओ के विषय मे अधिक लिखना प्रासगिक नही होगा, पर यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि आपने प्राकृत साहित्य एव आगमो की टीकाएँ लिख कर साहित्य भण्डार की श्रीवृद्धि की है। आपके शिष्य श्री ज्ञानमुनि जी भी प्राकृत के अच्छे विद्वान् हैं।

तेरापन्थ सम्प्रदाय के अनेक आधुनिक मुनियो ने भी प्राकृत भाषा मे लिखा है। 'रयणवालकहा' चन्दनमुनि जी की एक श्रेष्ठ रचना है। राजस्थानी जैन श्वेताम्बर परम्परा के सन्तो ने जितना साहित्य लिखा है, उतना आज उपलब्ध नही है। कुछ तो मुस्लिम युग के धर्मान्ध शासको ने जैन शास्त्र भण्डारो को नष्ट कर दिया और कुछ हमारी लापरवाही से चूहो, दीमक एव सीलन से नष्ट हो गये। तथापि जो कुछ अवशिष्ट है, उन ग्रन्थो को आधुनिक दृष्टि से सम्पादित करके प्रकाशित किया जाये तो अज्ञात महान् साहित्यकारो का सहज ही पता लग सकता है।

७

भारतीय साहित्य में काव्य-मीमांसा

गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि और सफल समालोचक मखक ने समालोचक के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए लिखा है—किसी भी कवि के काव्य के मर्म को समझने की योग्यता समालोचक मे होती है। सफल साहित्यकार ही कवि के कमनीय सद्‌गुणो की सौरभ दिग्‌दिगन्त मे फैला सकता है। जैसे एक तैलबिन्दु बिना जल के विस्तार नही पाता वैसे ही समालोचक के अभाव मे कवि के काव्य का रहस्य जनता समझ नही पाती। समालोचक कवि के काव्य की कसौटी करता है। वह सहृदयी होता है। उसका मानस उदात्त और हृदय विराट् होता है।

आचार्य राजशेखर ने "काव्य मीमासा" मे, आचार्य रुच्चक ने "साहित्य मीमासा" मे, पण्डित विश्वनाथ ने "साहित्य दर्पण" मे काव्य के समस्त अगो पर चिन्तन-मनन किया है। काव्य एक कला है। उसमे उदात्त भावानुभूति और रसानुभूति होती है। वह बुद्धि और तर्कप्रधान नही, अपितु अनुभूतिप्रधान होता है। उसमे कवि के अन्त करण का अनन्त आनन्द अठखेलियाँ करता रहता है। एतदर्थ ही महाकवि भवभूति के हृत्तन्त्री के सुकुमार तार झनझनाये हैं कि मैं उस विमल वाणी को वन्दना करता हूँ जिसमे आत्मा की दिव्य और भव्य कला अमृत रूप मे विद्यमान है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कहा है—काव्य मे कलाकार अपने को अभिव्यक्त करता है।

समवायाग, नायाधम्मकहा, राजप्रश्नीय, औपपातिक, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र और उनकी वृत्तियो मे कला के सम्बन्ध मे गहराई से विश्लेषण किया गया है। पुरुषो के लिए बहत्तर कलाएँ और महिलाओ के लिए चौसठ कलाओ का विधान है। उन कलाओ मे 'काव्य कला' भी एक कला है। 'ललित विस्तर' ग्रन्थ मे काव्य करण विधि को कला मे परिगणित किया है। भर्तृहरि ने तो काव्य कला रहित व्यक्ति को पशु की सज्ञा प्रदान की है।[1] कलाओ मे काव्यकला श्रेष्ठ

---

[1] साहित्य सगीत कला विहीन'
साक्षात् पशु पुच्छविपाणहीन ॥

कला है। 'काव्यालकार' ग्रन्थ मे आचार्य भामह ने स्पष्ट रूप से लिखा है—ऐसा कोई शब्द नही, ऐसा कोई वाक्य नही, ऐसी कोई विद्या नही और ऐसी कोई कला नही जो काव्य का अग होकर न आये।

काव्य क्या है ? इस प्रश्न पर अतीत काल से ही चिन्तन चलता रहा है। विभिन्न मनीषियो ने विभिन्न दृष्टियो से उत्तर देने का प्रयास किया है। किन्तु काव्य की सर्वसम्मत परिभाषा अभी तक निश्चित नही हो सकी है। आचार्य भामह ने "काव्यालकार" मे शब्द और अर्थ को काव्य कहा है।[1] आचार्य दण्डी ने "काव्यादर्श" मे शब्दार्थ रूपी शरीर को अलकृत करने वाले अलकारों को सर्वाधिक महत्व देकर उसे काव्य की सज्ञा से अभिहित किया है।[2] आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्" मे साहित्य उसे माना है जिसमे शब्द और अर्थ का शोभाशाली सम्मिलन होता है—जब कवि अपनी प्रकृष्ट, प्रतिभा से उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त शब्द समाविष्ट करता है। जो कुछ भी लेखबद्ध हो जाय वह साहित्य नही है, अपितु साहित्य वह है जिसमे हृदय की निर्मल भावना का विस्फोट होता है। साहित्य का श्रेष्ठतम रूप काव्य है। क्योकि काव्य सुन्दर, सरस और मधुर होता है। उसमें व्याकरणशास्त्र की तरह नीरसता नही होती, दर्शन और तर्कशास्त्र की तरह गम्भीरता नही होती, और गणितशास्त्र की तरह जटिलता नही होती। काव्य मे लोकजीवन का मगल और अखण्ड आनन्द का पयोधि उछालें मारता है। विदग्धता और सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजना शैली काव्य का प्राण है।[3] आनन्दवर्द्धन के अनुसार—काव्य वह है जिसमे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ की प्रधानता हो।[4] वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।[5] आचार्य मम्मट ने दोपरहित गुण-युक्त अलकार से समलकृत शब्दार्थमयी रचना को काव्य की अभिधा दी है।[6] विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है।[7] पण्डित जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दो को काव्य कहा है।[8] इसी तरह अग्निपुराणकार[9]

---

1 शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

2 तै. शरीर च काव्यानामलकाराश्च दर्शिता।
शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥ —दण्डी, काव्यादर्श

3 वक्रोक्ति काव्यजीवितम्। —कुन्तक, वक्रोक्ति जीवितम्

4 काव्यस्यात्मा ध्वनि। —ध्वन्यालोक

5 रीतिरात्मा काव्यस्य। —वामन, अलंकार सूत्र

6 तवदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वाऽपि। —मम्मट, काव्यप्रकाश

7 वाक्य रसात्मक काव्यम्। —विश्वनाथ, साहित्यदर्पण

8 रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्। —जगन्नाथ, रसगगाधर

9 सक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्य स्फुरदलकार गुणवद्दोषवर्जितम्॥ —अग्निपुराण

तथा रुद्रट,[1] भोज,[2] जयदेव,[3] आचार्य हेमचन्द्र,[4] वाग्भट,[5] आदि ने भी काव्य की परिभाषाएँ निर्माण की हैं।

आचार्य राजशेखर ने लिखा है—शास्त्र को समझने के लिए शब्द की अभिधा शक्ति पर्याप्त है, किन्तु काव्य को समझने के लिए केवल अभिधा ही पर्याप्त नही है, कही अभिधा, कही व्यजना और कही लक्षणा आवश्यक है। काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो रहते हैं। वे दोनो एक दूसरे पर आघृत हैं। शब्द बिना अर्थ के नही रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के बिना सम्भव नही है। शब्द और अर्थ दोनो का सहभाव ही काव्य नही है। काव्य मे रस, अलकार, रीति, गुण, दोष-शून्यता आवश्यक है। काव्य मे रसात्मकता होती है। सासारिक जितने भी आनन्द हैं, वे क्षणिक हैं। प्रथम क्षण मे उनकी जैसी अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति बाद मे नही होती। पर काव्य के आनन्द को देश-काल की सकीर्ण सीमा आवद्ध नही कर सकते। उस आनन्द की तुलना पुत्रजन्म, धनागमन, पद-प्राप्ति, प्रतिष्ठा की उपलब्धि और प्रमदा की उपलब्धि से भी कही अधिक है।

आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने काव्य के मुख्य रूप से माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने हैं। भरत और वामन ने दस गुणो का उल्लेख किया है। पर वे सभी गुण इन तीन गुणो मे समाविष्ट हो जाते हैं। काव्य की आत्मा रस है। जिसके कारण रस मे बाधा उपस्थित होती हो वह दोष है। मम्मट ने पद-दोष, पदाश-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष ये पाँच दोष के प्रकार बताये हैं। 'काव्य प्रकाश' के सप्तम उल्लास मे उन्होंने उनका विस्तार से विवेचन भी किया है।

काव्य के प्राणतत्त्व के सम्बन्ध मे काव्य-मनीषियो ने अत्यन्त गभीरता से चिन्तन करते हुए रसवादी, अलकारवादी, रीतिवादी, ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी और औचित्यवादी इन छह सम्प्रदायो का उल्लेख किया है। हम यहाँ पर सभी का विस्तार से विश्लेषण न कर सक्षेप मे यही कहना चाहेगे कि काव्य के विविध रूप, विविध अग, विविध विधा के सम्बन्ध मे हजारो वर्षों से उस पर चिन्तन किया जा रहा है।

---

1 ननु शब्दार्थौ काव्यम्। —रुद्रट, काव्यालकार

2 निर्दोष गुणवत् काव्यमलकारैरलकृतम्। रसान्वित। —भोज, सरस्वती कण्ठाभरण

3 निर्दोषा लक्षणावती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ —जयदेव, चन्द्रालोक

4 हेमचन्द्र, काव्यानुशासन।

5 वाग्भट, काव्यानुशासन।

भारतीय चिन्तको ने काव्य के मुख्य दो भाग किये हैं—प्रेक्ष्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। जो काव्य रंगमच पर अभिनय करने योग्य हो वह प्रेक्ष्यकाव्य है।[1] ऐसे काव्यो की पूर्ण आनन्द की उपलब्धि आँखो से देखने पर ही हो सकती है। श्रव्य-काव्य वह है जो कानो से सुना जाय।[2] मधुर स्वर से जो गाया जाता है और जिसे सुनकर आनन्द की अनुभूति होती है, वह श्रव्यकाव्य है। प्राचीन काल मे लेखन की परम्परा कम थी। इसलिए स्मृति के सहारे ही काव्य को स्मरण रखा जाता था, इसलिए वह श्रव्यकाव्य कहलाता था। आज श्रव्यकाव्य को अधिकाश रूप मे पढा ही जाता है, पर उसे पाठ्यकाव्य न कहकर श्रव्यकाव्य ही कहा जाता है। प्रेक्ष्यकाव्य भी पढे जाते हैं, किन्तु उसका वास्तविक आनन्द देखने मे आता है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्यकाव्य के[3] पाठ्य और गेय ये दो भेद किये है—पाठ्य मे नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, व्यायोग, डिम, उत्सृष्टिकाग, प्रहसन, भाण, वीथी तथा सट्टक आदि है।[4] और गेय मे डोम्बिका, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित और राग काव्य आदि हैं।[5] यहाँ पर हम उन सभी के भेद और प्रभेदो पर चिन्तन न कर, श्रव्यकाव्य के तीन भेद हैं—गद्य, पद्य और मिश्र[6] उस पर विचार करते हुए मूल विषय पर प्रकाश डालेंगे।

गद्यकाव्य वह है जो आवश्यक काव्य गुणो से अलकृत हो। साथ ही उसमे छन्द योजना का अभाव होता है।[7] गद्यकाव्य को कथा और आख्यायिका इन दो विभागो मे विभक्त कर सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार आख्यायिका गद्यमय रचना होती है। जिसमे धीरोदात्त नायक अपने जीवनवृत्त को अपने मुँह से अपने मित्र आदि को वताता है। उसमे रोमाचक तत्त्व कन्यापहरण, सग्राम आदि होते हैं। सस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "हर्ष चरित्र" को इसमे लिया जा सकता है।[8]

---

1 प्रेक्ष्यमभिनेयम्। —काव्यानुशासन ८-१ की वृत्ति (आ० हेमचन्द्र)

2 श्रव्यमनभिनेयम्। —वही० ८-१

3 प्रेक्ष्यं पाठ्य गेय च। —हेमचन्द्र, काव्यानुशासन ८-२

4 पाठ्य नाटकप्रकरणनाटिकासमवकारेहामृगडिमव्यायोगोत्सृष्टिकाकप्रहसन भाण-वीथी सट्टकादि। —वही० अध्याय ८ सूत्र ३

5 गेय डोम्बिकाभाणप्रस्थानशिगकभाणिकाप्रेरणरामाक्रीडहल्लीसकरासगोष्ठी श्रीगदितरागकाव्यादि। —वही० अध्याय ८, सूत्र ४

6 तच्च गद्य-पद्य मिश्रभेदैस्त्रिधा। —वाग्भट, काव्यानुशासन

7 गद्यमपाद-पदसन्तानच्छन्दो रहितो वाक्यसदर्भ.। —वाग्भट, काव्यानुशासन

8 काव्यानुशासन ८-१० वृत्ति हेमचन्द्र।

कथा वह है जहाँ कवि स्वय नायक के जीवनवृत्त का वर्णन गद्य मे करता है। जैसे दशकुमार चरित्र, पचतंत्र, कादम्बरी आदि।[1] कथा मे भी रोमाचक तत्व की प्रधानता रहती है।

छन्दोवद्ध रचना पद्य है। छन्दोवद्ध होने मे उसमे सगीत की सरसता रहती है जिससे सुनने मे वह वहुत मधुर लगती है। पद्य के भी दो विभाग है—प्रवन्धकाव्य और मुक्तककाव्य।[2] प्रवन्धकाव्य मे एक कथा रहती है और सभी पद्य एक दूसरे से सवधित होते हैं। उसमे वर्णन भी होता है, प्राक्कथन भी होता है, पारम्परिक सम्वन्ध होने के कारण प्रभाव का प्राधान्य रहता है। किन्तु मुक्तककाव्य स्वतन्त्र सत्ता लिये हुए होता है। उसके पद्य एक दूसरे से मिलते नही हैं। वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं।

प्रवन्धकाव्य के भी महाकाव्य और खण्डकाव्य ये दो प्रकार हैं। महाकाव्य मे सर्वांगीण जीवन का चित्र होता है। वह सर्गवद्ध, विशाल, अलकारयुक्त श्लिष्ट भाषा का प्रयोग, राज दरवार, दूतप्रेषण, सैन्यप्रयाण, युद्ध, जीवन के विविध रूपों व अवस्थाओ का चित्रण, महाकाव्य का नायक, कुलीन, वीर, विद्वान्, उसके उदात्त गुणों का वर्णन होता है। उसमे समस्त रसो का परिपाक होता है और लोक स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। चार पुरुषार्थों को स्थान दिया जाता है। इस प्रकार भामह ने 'काव्यालकार[3] मे, दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे[4], रुद्रट ने 'काव्यालकार' मे[5] और वाग्भट,[6] आचार्य हेमचन्द्र,[7] आचार्य अमरचन्द्र,[8] विश्वनाथ[9] प्रभृति विद्वानो ने महाकाव्य के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टियो से चिन्तन किया है।

भारतीय चिन्तको ने महाकाव्य को सर्गवद्ध होना आवश्यक माना है। आचार्य हेमचन्द्र और वाग्भट के अभिमतानुसार वह आश्वासकवद्ध भी हो सकता है। सर्ग न अधिक वडे होने चाहिए, न अत्यन्त लघु ही। विश्वनाथ ने सर्गो की संख्या के सम्वन्ध मे चिन्तन किया है, पर अन्य आचार्यों ने नही। कथानक के सम्वन्ध मे

---

[1] काव्यानुशासन ८-८ वृत्ति हेमचन्द्र।

[2] वही० पृ० १७।

[3] काव्यालंकार, परि० १, श्लो० १६-२३।

[4] काव्यादर्श, परि० १, श्लो० १४ १६।

[5] काव्यालकार, अ० १६, श्लो० २-१६।

[6] काव्यानुशासन।

[7] काव्यानुशासन अ० ८।

[8] काव्यकल्पलता वृत्ति।

[9] साहित्य दर्पण, परि० ६, श्लोक ३१५-३२८।

रुद्रट का मानना है कि वह महती घटना होनी चाहिए। उसमे पांच नाट्य-सधियो की योजना होनी चाहिए जिससे कथानक विस्तृत हो सके। कथानक ऐतिहासिक या पुराण पर आधृत होना चाहिए। रुद्रट की दृष्टि कथानक से कल्पनाप्रधान भी हो सकता है। रुद्रट और हेमचन्द्र के मतानुसार महाकाव्य मे अवान्तर कथाएँ होनी चाहिए जिससे गम्भीर और व्यापक अनुभवो का परिज्ञान हो सके। महाकाव्य मे प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा का सजीव चित्रण होता है। आचार्य हेमचन्द्र का मानना है 'यदि मूलकथा मे प्राकृतिक सौन्दर्य आदि पर चिन्तन न हो सके तो अवान्तर कथाओ मे इसका समावेश करना चाहिए।' भोजदेव का अभिमत है 'इन सभी विषयो का समावेश करना कठिन है। किन्तु यदि कवि काल का वर्णन कर देता है तो देश का वर्णन करना उतना आवश्यक नही है। कालवर्णन आवश्यक है। अमरचन्द्र ने षट्ऋतुओ का वर्णन और अन्य वर्णन विस्तार से करने का सूचन किया है। रुद्रट और विश्वनाथ का मानना है अतिप्राकृतिक और अलौकिक तत्त्वो का होना आवश्यक है।

महाकाव्य का आरम्भ किस प्रकार करना चाहिए इस सम्बन्ध मे भामह और भोजदेव ने कुछ भी प्रकाश नही डाला है। दण्डी का मन्तव्य है—महाकाव्य मे आशीर्वचन, नमस्कार, वस्तुनिर्देशन आदि होना चाहिए। वाग्भट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ इसके साथ ही खल-निन्दा और सज्जन-प्रशसा भी आवश्यक मानते हैं। महाकाव्य के उपसहार के सम्बन्ध मे अन्य सभी आचार्य मौन रहे हैं किन्तु रुद्रट और हेमचन्द्र ने लिखा है कि कवि को अपना उद्देश्य प्रकट करना चाहिए, अपने आराध्य देव का भी स्मरण करना चाहिए तथा मगलप्रद शब्दो का प्रयोग होना चाहिए। रुद्रट का मानना है 'अन्त मे नायक का अभ्युदय दिखाना चाहिए।'

सर्ग समाप्ति के सम्बन्ध मे विश्वनाथ का कहना है कि अन्त मे अगले सर्ग की सूचना देनी चाहिए। वाग्भट का मानना है—प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद मे कवि द्वारा अभिप्रेत शब्द, 'श्री', 'लक्ष्मी' आदि का प्रयोग होना चाहिए। नामकरण के सम्बन्ध मे विश्वनाथ का मानना है कि कथावस्तु या चरित्रनायक के नाम पर होना चाहिए। दण्डी, भोज, वाग्भट और हेमचन्द्र के अनुसार नायक चतुर और उदात्त होना चाहिए। भामह की दृष्टि मे नायक कुलीन, वीर और विद्वान हो। विश्वनाथ की दृष्टि से नायक धीरोदात्त गुणो से युक्त, उच्च कुल मे उत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए। रुद्रट का मन्तव्य है कि महाकाव्य मे नायक के समान प्रतिनायक भी आवश्यक है जो नायक की क्रोधाग्नि को भडका सके। प्रतिनायक के अतिरिक्त भामह, दण्डी, रुद्रट, वाग्भट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ का मानना है कि मन्त्री, दूत, सैनिक, कुमार, कुमारपत्नी, राजकन्या आदि भी आवश्यक हैं। महाकाव्य मे नवो रसो को आवश्यक माना है। विश्वनाथ का मानना है कि शृगार, वीर और शान्त मे से कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए, अन्य गौण। सभी आचार्यो ने रस के साथ अलकार भी

आवश्यक माने हैं। कितने ही विज्ञ अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए अलंकारों का प्रदर्शन करते थे। इसलिए रुद्रट, वाग्भट और विश्वनाथ का मन्तव्य था कि अलकार आवश्यक तो हैं किन्तु अनिवार्य नही। महाकाव्य का छन्दोबद्ध होना आवश्यक है। दण्डी का मानना है—महाकाव्य का छन्द अत्यन्त श्रुतिमधुर होना चाहिए और सर्ग के अन्त मे भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र का मन्तव्य है—अर्थ के अनुकूल छन्द का प्रयोग होना चाहिए। यदि समस्त काव्य मे एक छन्द भी हो तो एतराज नही है। विश्वनाथ और दण्डी यह भी मानते हैं कि एक ही सर्ग मे विविध छन्दो का प्रयोग भी हो सकता है।

महाकाव्य मे प्रसग के अनुसार माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणवाली भाषा का प्रयोग होना चाहिए। भामह का मानना है—महाकाव्य मे साहित्यिक भाषा अपेक्षित है। उसमे ग्राम्य शब्दो का प्रयोग नही होना चाहिए। दण्डी और हेमचन्द्र की दृष्टि से भाषा सरल, सरस और बोधगम्य होनी चाहिए। रति के प्रकर्ष के लिए कोमलकान्त पदावली का प्रयोग हो। उत्साह के प्रकर्ष के लिए प्रौढ और क्रोध के लिए कठोर शब्दो का प्रयोग आवश्यक है। कवि को भाषा पर असाधारण अधिकार होना चाहिए जिससे वह अपने मन्तव्य को साधिकार व्यक्त कर सके।

विश्वनाथ के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की उपलब्धि महाकाव्य का उद्देश्य माना है। विश्वनाथ किसी एक पुरुषार्थ को भी महाकाव्य का उद्देश्य मानते हैं।

भारतीय मूर्धन्य मनीषियो ने जिस प्रकार महाकाव्य के बारे मे चिन्तन किया है। उसी तरह पाश्चात्य विज्ञो ने भी उस पर चिन्तन किया है। लार्ड केम्स के अनुसार[1] वीरतापूर्ण कार्यों का उदात्त शैली मे वर्णन महाकाव्य है। लवस्सू[2] (फ्रेंच-विद्वान्) के अनुसार महाकाव्य ऐसा रूपक है जिसमे प्राचीन महत्वपूर्ण घटनाओ का वर्णन पद्यबद्ध रूप से किया जाय। हाब्स[3] की दृष्टि मे वीरतापूर्ण समाख्यानात्मक कविता महाकाव्य है। लैफकैडियो हर्न[4] का मन्तव्य है कि महाकाव्य सपूर्ण जाति के आदर्शों की पद्यबद्ध अभिव्यक्ति करने वाला काव्य है। विलियम रोज बेनिट[5],

---

1 M. Dixon, English Epic & Heroic Poetry, Page 18.

2 Ibid, Page 2.

3 Ibid, Page 22

4 हिन्दी महाकाव्य एव महाकाव्यकार, ले० श्री रामचरण महेन्द्र पृ० १४ से उद्धृत।

5 Mr William Rose Benit "The Reader's Encyclopedia" Page 345.

कश्मीर विजय कर जब लौटा, तो अनेक आचार्यों एव साधुओ का उसने सम्मान किया। उनमे एक समयसुन्दरजी भी थे। उन्हे वाचक पर प्रदान किया गया। इन्होने वि० स० १६८६ ई० सन् १६२९ मे 'गाथा सहस्री' ग्रन्थ का संग्रह किया। इस ग्रन्थ पर एक टिप्पण भी है, पर उसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नही हो सका है। इसमे आचार्य के छत्तीस गुण, साधुओ के गुण, जिनकल्पिक के उपकरण, यति दिनचर्या, साढ़े पच्चीस आर्य देश, ध्याता का स्वरूप, प्राणायाम, वत्तीस प्रकार के नाटक, सोलह शृंगार, शकुन और ज्योतिप आदि विषयो का सुन्दर सग्रह है। महानिशीथ, व्यवहारभाष्य, पुष्पमाला वृत्ति आदि के साथ ही महाभारत, मनुस्मृति, आदि सस्कृत के ग्रन्थो से भी यहाँ पर श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ठक्कुर फेरू

ठक्कुर फेरू राजस्थान के कन्नाणा के निवासी श्वेताम्बर श्रावक थे। इनका समय विक्रम की १४वी शती है। ये श्रीमाल वश के धोधिया [धधकुल] गोत्रीय श्रेष्ठी कालिम या कलश के पुत्र थे। इनकी सर्वप्रथम रचना युगप्रधान चतुष्पादिका है, जो सवत् १३४७ मे वाचनाचार्य राजशेखर के समीप अपने निवास-स्थान कन्नाणा मे वनाई थी। उन्होने अपनी कृतियो के अन्त मे अपने आपको 'परम जैन' और 'जिणदपय भत्तो' लिख कर अपना कट्टर जैनत्व बताने का प्रयास किया है। 'रत्न परीक्षा' मे अपने पुत्र का नाम 'हेमपाल' लिखा है। जिसके लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी है। इनके भाई का नाम ज्ञात नही हो सका है।

दिल्लीपति सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के राज्याधिकारी या मत्रीमण्डल मे होने से इनको बाद मे अधिक समय दिल्ली रहना पडा। इन्होने 'द्रव्य परीक्षा' दिल्ली की टकसाल के अनुभव के आधार पर लिखी। गणितसार मे उस युग की राजनीति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। गणित प्रश्नावली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शाही दरवार मे उच्च पदासीन व्यक्ति थे। इनकी सात रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो वहुत ही महत्वपूर्ण है। इनका सम्पादन मुनिश्री जिनविजय जी ने 'रत्न परीक्षादि सप्त ग्रन्थ संग्रह'[1] के नाम से किया है। युगप्रधान चतुष्पादिका तत्कालीन लोकभाषा व चौपाई, छप्पय मे रची गई है, और शेष सभी रचनाएँ प्राकृत मे हैं। भाषा सरल व सरस है, उस पर अपभ्रंश का प्रभाव है।

जयसिहसूरि

"धर्मोपदेशमाला विवरण"[2] जयसिह सूरि की एक महत्वपूर्ण कृति है, जो गद्य-पद्य मिश्रित है। यह ग्रन्थ नागोर मे बनाया था।[3]

---

1 प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—वम्वई

2 प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला—वम्बई

3 नागउर—'जिणायज्जणे समाणिय विवरणं एय'

— धर्मोपदेशमाला, प्रशस्ति २९, पृष्ठ २३०.

जीवन का वर्णन करने पर भी वासना का विरेचन, प्रशम और निर्वेद पर अधिक वल दिया गया है। भोग पर त्याग की विजय, राग पर विराग की विजय वताई गई है। चरित्र मे प्रेम, विवाह, मिलन, युद्ध, सैनिक अभियान, दीक्षा, तपश्चरण, विविध उपसर्गों पर विजय वैजयन्ती फहराता हुआ नायक आध्यात्मिक उत्क्राति की ओर आगे वढता है। काव्य का मूल उद्गम स्रोत आगम, प्रागैतिहासिक व ऐतिहासिक महा-पुरुषो के जीवन चरित्र और ऐसे विशिष्ट व्यक्तियो के जीवन-वृत्त उसमे होते है जो जन-जीवन को निर्मल प्रेरणा प्रदान करने वाले होते हैं।

आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरि, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, उपाध्याय यशोविजय, समयसुन्दर गणी, आचार्य अकलक, आचार्य समन्तभद्र, विद्यानन्द प्रभृति शताधिक जैन मनीपियो ने सस्कृत भाषा मे साहित्य का निर्माण किया है। उनके द्वारा सहस्राधिक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ है। आधुनिक चिन्तको ने उसके सम्बन्ध मे शोध कार्य भी किया है जिससे सैकड़ो जैन महाकाव्यो का, जो अज्ञात थे, उनका पता लगा है।

आधुनिक युग मे सस्कृत साहित्य का उतना प्रचार नही जितना अतीत काल मे था। संस्कृत साहित्य का अध्ययन तो होता है, किन्तु काव्यो का प्रणयन वहुत ही कम मात्रा मे हो रहा है। क्योकि सस्कृत भापा—भापियो की सख्या अल्पतम होती चली जा रही है। जब जनता को सस्कृत भापा का परिज्ञान नही है तो काव्य का आनन्द उन्हे किस प्रकार आ सकता है और बिना आनन्द के काव्य-सृजन को प्रोत्सा-हन नही मिल सकता। जब कवि के अन्तर्मानस मे काव्य-निर्माण के प्रति अत्युत्कट जिज्ञासा होती है, तभी काव्य का प्रणयन होता है।

श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज का श्रीमद्-अमरसूरि काव्यम् अपने आप मे एक अनूठा काव्य है। प्रस्तुत काव्य श्रद्धेय गुरुवर्य ने अचार्यसम्राट श्री अमरसिंह जी महाराज के पवित्र चरित्र को लेकर तेरह सर्गों मे लिखा। इसमे स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्तलिका प्रभृति विविध छन्दो का उपयोग हुआ है और साथ ही रूपक, वक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि विविध अलकारो का प्रयोग हुआ है।

८

सन्तकवि आचार्यश्री जयमल्लजी

समाज के विकास के लिए, कल्याण के लिए, समय-समय पर किसी न किसी युगपुरुष का जन्म होता है जो अपने जीवन की पवित्रता, दिव्यता और महानता से जन-जीवन को सही दिशा-दर्शन देता है। वह अपने पवित्र आचार और विचार से अन्धविश्वासो को, अन्ध-परम्पराओ को एव दृढतापूर्ण रूढिवाद को उखाडकर फेक देता है। जब तक उसके तन मे प्राण-शक्ति है, मन मे तेज है और वाणी मे ओज है, वहाँ तक वह सस्कृति के नाम पर पनपने वाली विकृति से लडता है, धर्म के नाम पर पनपने वाले अधर्म से जूझता है। वह शूलो के कटकाकीर्ण मार्ग को भी फूलो की शय्या समझकर आगे बढता है। जग जीता है बढने वालो ने—यह उसके जीवन का मूल-मत्र है, महान आदर्श है। वह शेर की तरह गम्भीर गर्जन करता हुआ आगे बढता है। विरोधी उसके मार्ग मे बाधक बनते हैं, किन्तु वह अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा और सहिष्णुता के कारण उन्हे साधक बना देता है। विरोधी विरोध से विस्मृत होकर एक दिन उसके चरणो मे नतमस्तक हो जाते है और वे उसका अनुकरण व अनुगमन करने लगते हैं, क्योकि उसके विचारो मे युग के विचार झकृत होते है, उसकी वाणी मे युग की वाणी मुखरित होती है। उसके आचरण मे युग का आचरण क्रियाशील होता है। उसका सोचना, बोलना और करना स्वहिताय के साथ ही सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय होता है। वह अपमान के जहर के प्याले को स्वय पीकर दूसरो को सम्मान का अमृत बाँटता है। कवि दिनकर के शब्दो मे युगपुरुष की परिभाषा यह है—

> सब की पीडा के साथ व्यथा,
> अपने मन की जो जोड सके।
> मुड़ सके जहाँ तक समय उसे
> निर्दिष्ट दिशा मे मोड सके।
> युग पुरुष वही सारे समाज का
> निहित धर्म गुरु होता है।
> सब के मन का जो अधकार
> अपने प्रकाश से धोता है॥

यह पूर्ण सत्य-तथ्य है कि युगपुरुष वनाया नही जाता, स्वय ही वन जाता है। युगपुरुष अपने युग का प्रवल प्रतिनिधित्व करता है। युग की जनता को सही दिशा मे गति करने की प्रेरणा देता है। भूले-भटके जीवन के राहियो को पथ प्रदर्शन करता है और उनको यह आगाह करता है कि तेरा मार्ग यह नही है जिस पर तू मुस्तैदी से कदम वढा रहा है, अध-श्रद्धा से प्रेरित होकर चला जा रहा है, जरा सभल, विवेक के विमल प्रकाश मे चल। इस प्रकार वह अपने युग की भावुक जनता को—श्रद्धालु भक्तो को—श्रद्धा, भक्ति और अर्पण का पुनीत पाठ पढाता है। सत्य शिव सुन्दरम् से उनके जीवन को चमकाता है।

आचार्य प्रवर परम श्रद्धेय जयमल्लजी महाराज को मैं एक निश्चित अर्थ मे युगपुरुष मानता हूँ। जो युगपुरुष होता है वह युगदृष्टा भी होता है। जीवन का व्यापक और उदार दृष्टिकोण ही युगपुरुष और युगदृष्टा की सच्ची कसौटी है। इस कसौटी पर जब हम आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व और कृतित्व को कसते हैं तो वह पूर्ण रूप से खरा उतरता है। वे एक वहुमुखी प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे, जिन्होंने जन-जीवन को नया विचार, नयी वाणी और नया कर्म दिया, भोग मार्ग से हटाकर योग मार्ग की ओर वढने से उत्प्रेरित किया। जन-जन के मन से अज्ञान-अधकार को हटाकर ज्ञान की दिव्य ज्योति जगायी।

आचार्य प्रवर का जन्म विक्रम सवत् १७६५ भादवा सुदी १३ को जोधपुर राज्यान्तर्गत लाम्बिया गाँव मे हुआ था। उनके पिता का नाम मोहनदासजी और माता का नाम महिमादेवी था। ये समदडिया महता गोत्रीय वीसा ओसवाल थे। इनके पिता कामदार थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम रीडमलजी था। इनका वाल्य-काल सुखद और शान्त था। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और अपने ज्येष्ठ भ्राता का प्रेम इन्हे खूव मिला। इनकी तेजस्विता, बुद्धि की विलक्षणता से ग्राम के अन्य लोग भी इनकी अत्यधिक प्रशसा करते थे। सहृदयता, नियमवद्धता, परदुःख-कातरता, सरलता और सौजन्यता आदि ऐसे विशिष्ट गुण थे जिनके कारण ये सभी के विशेष रूप से आदर-पात्र थे। वाल्यकाल मे वे अपने हमजोली सगी-साथियो के साथ खेलते-कूदते भी थे, नाचते-गाते भी थे, हँसते-हँसाते भी थे, रूठते-मचलते भी थे। इस प्रकार वाल्य-सुलभ सभी कार्य करने पर भी उनके स्वभाव की गम्भीरता, चिन्तन की महानता आदि प्रत्येक कार्य मे झलक पडती थी। उनकी वैराग्य भावना सहज स्फूर्त थी।

वाईस वर्ष की अवस्था मे माता-पिता के स्नेह भरे आग्रह को सम्मान देकर रीया के शिवकरण जी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ पाणिग्रहण किया और व्यापारी वनकर व्यापार क्षेत्र मे उतरे, किन्तु वह उनके जीवन का लक्ष्य नही था। उनका मन का पछी उसमे रम नही रहा था। वह तो साधना के अनन्त गगन मे विचरण करना चाहता था। सयोग से अपने साथियो के साथ व्यापार हेतु, मेडता

गये। वहाँ पर बाजार बन्द देखा। आचार्य भूधर जी महाराज की सेवा मे उपस्थित हुए। उनके वैराग्य से छलछलाते हुए पावन प्रवचन को श्रवण कर मन मे वैराग्य भावना अठ-खेलियाँ करने लगी। उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर एक महान् साधक का आदर्श उपस्थित किया। ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लेने मात्र से ही उन्हे सन्तोष कहाँ था ? वे तो एक विशिष्ट अध्यात्म योगी वनना चाहते थे, परन्तु उसके लिए वाधक थी माँ की ममता, पिता का प्यार और नवपरिणीता का अपार स्नेह। किन्तु कोई भी उन्हे अपने लक्ष्य से विचलित न कर सका। क्या कभी गज-राज कमलनाल के कोमल तन्तुओ से बँधा है ? एक ओर पत्नी द्विरागमन की अपलक प्रतीक्षा कर रही थी, मन मे रग-विरगे सपने सजो रही थी, किन्तु दूसरी ओर आचार्यश्री के प्रवचन से पति शिव सुन्दरी को वरण करने के लिए, श्रमण वन जाता है और ऐसा आदर्श श्रमण बनता है कि जिसकी तुलना अन्य साधारण श्रमणो से नही की जा सकती। श्रमण बनते ही सोलह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप का आचरण किया। जिसमे एक दिन का उपवास और एक दिन का आहार ग्रहण करने का क्रम चलता रहा है। यहाँ तक कि आचार्य भूधरजी के स्वर्गारोहण के दिन से लेकर पचास वर्ष तक कभी लेटकर नही सोये। कितनी गजब की थी उनकी आध्यात्मिक साधना। आज का साधक धुआँधार प्रचार तो करना चाहता है, पर जीवन मे क्रिया का तेज नही है। विना तेल की वत्ती वताइये, कव तक प्रकाश दे सकती है ? आचारहीन विचार कल्चर मोती है जिसकी चमक और दमक कृत्रिम और अस्थायी है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज क्या थे ? ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय, 'विचार मे आचार और आचार मे विचार'। वे थे मनोविजेता अतः जगत विजेता भी थे। उन्होंने स्फटिक-सा निर्मल और समुद्र-सा अगाध ज्ञान पाया था, किन्तु कभी भी उसका अहकार नही किया। उन्होने महान् त्याग किया, किन्तु कभी भी उस त्याग का विज्ञापन नही किया। उन्होने उत्कृष्ट-तपस्या की, किन्तु कभी भी उसका प्रचार नही किया। उन्होने वैराग्य की उत्कृष्ट साधना की किन्तु कभी भी उसका शोरगुल नही मचाया। कमल कव कहता है कि सुगन्ध लेने के लिए मेरे पास आओ किन्तु भवरे तो सौरभ लेने के लिए उस पर उमड-घुमड कर मंडराते ही रहते है। यही कारण है सम्राट से लेकर हजारो-हजार व्यक्ति उनके गुणो पर मुग्ध होते रहे और उनके अनुयायी बनते रहे। जिधर से भी निकले उधर भक्त वर्ग तैयार होता रहा। श्रद्धेय जयमल्ल जी महाराज का मुख्य विहार स्थल मरुधर प्रान्त रहा है, आज ऐतिहासिक प्रबल प्रमाणो से यह प्रमाणित हो चुका है कि मरुधर-धरा की पुण्य भूमि मे स्थानकवासी जैन धर्म का सर्वप्रथम प्रचार आचार्य सम्राट श्रद्धेय श्री अमरसिंह जी महाराज ने किया था। पूज्यश्री धर्मदास जी महाराज की शाखा के प्रज्ञामूर्ति पूज्यश्री धन्नाजी महाराज ने यह सुना कि आचार्यश्री अमरसिंह

जी महाराज के प्रवल धर्म प्रचार से मरुधर प्रान्त सुलभवोधि हो चुका है तव वे अपने शिष्यो सहित वहाँ पधारे। जोधपुर, जालोर, खाण्डप, पदराड़ा, पीपाड प्रभृति स्थल के प्राचीन हस्तलिखित भण्डारो को देखने का अवसर इन पक्तियो के लेखक को मिला है। उन भण्डारो से जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे अनेक प्राचीन पत्र उपलव्ध हुए है जिनमे स्थानकवासी समाज के इतिहास की अनमोल सामग्री विखरी पटी है। परम श्रद्धेय उपाध्याय राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी गुरुदेव श्री पुष्करमुनि महाराज के पास एक प्राचीन पत्र है जिसमे आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज का और आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज का पारस्परिक अत्यन्त मधुर सम्वन्ध था, इसका उल्लेख है। वे अनेक वार अनेक स्थलो पर एक दूसरे से मिले हैं। पारस्परिक एकता के लिए उन्होने अनेक नियमोपनियम भी वनाये हैं। उस पन्ने मे दोनो महापुरुषो के हस्ताक्षर भी हैं। मैं समझता हूँ उन महापुरुषो ने जो स्नेह का, सद्भावना का वीज वपन किया वह आज भी पल्लवित, पुष्पित है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने सतत जागरूकता एव उग्र साधना से न केवल अपने अखण्ड ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप का विकास ही किया, किन्तु आत्म-विकासी उपदेश एव काव्य रचना द्वारा साहित्य की जो श्रीवृद्धि की वह अपूर्व है, अनूठी है।

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज रीतिकाल मे हुए हैं जिस युग मे कवि गण विलास, वैभव एव सामाजिक जीवन को महत्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे, किन्तु आप उस रीतिकाल की वधी वधाई सडक पर नही चले। उन्होने रीतिकालीन उद्दाम वासनात्मक श्रृगार धारा को भक्ति-कालीन प्रशान्त साधनात्मक धारा की ओर मोडा। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि पद्माकर भी आपके ही समकालीन थे, जो—"**नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होली**" का निमन्त्रण दे रहे थे। कविवर नागरदास और हितवृन्दावन लाल भी इसी प्रकार श्री कृष्ण और राधा का श्रृगारिक चित्रण कर रहे थे। दूसरी ओर ठाकुर और वोधा विशुद्ध और सात्विक प्रेम का निरुपण कर रहे थे। कविवर गिरि-धर भी नीति का उपदेश देने के लिए कुंडलियाँ वना रहे थे। इधर श्रमण सस्कृति के जगमगाते नक्षत्र आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज अन्त स्थ सौन्दर्य को निखारने के लिए, तीर्थंकर, विहरमान, सतियाँ और व्रतीय श्रावको के गुणो का उत्कीर्तन कर रहे थे।

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि रीतिकाल के प्राय सभी कवि किसी न किसी के आश्रित रहे हैं। अपने आश्रयदाताओ को प्रसन्न करने हेतु वे विकार वर्द्धक श्रृगारिक चित्रण करते थे। किन्तु आचार्यश्री जयमल्ल जी किसी के भी आश्रित कवि नही थे। किसी को प्रसन्न करना उनकी काव्य रचना का उद्देश्य नही था। वे तो स्वन्त सुखाय रचना करते थे। अत उनके काव्य मे विलास

भावनाओ का पूर्ण अभाव है। रीतिकाल का कवि काव्य रचना के साथ ही काव्यगत सिद्धान्तो का विश्लेपण कर आचार्य बनता था। किन्तु आचार्य जयमल्ल जी महाराज ने लक्षण शास्त्र का निर्माण कर आचार्यपद प्राप्त नही किया, अपितु आचार धर्म का पालन कर वे आचार्य बने। उनका व्यक्तित्व उस युग के कवियो से सर्वथा पृथक है। सूरदास के काव्य मे सौन्दर्य की प्रधानता है। तुलसीदास के काव्य मे शक्ति की प्रतिष्ठा है। विहारी आदि के काव्य मे शृ गार की प्रधानता है। भूपण आदि के काव्य मे वीरत्व का निरूपण है। वहाँ आचार्य जयमल्ल जी म० के काव्य मे शील का विश्लेपण है। शील का वर्णन कर उन्होने उस युग के राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनके काव्य मे अध्यात्मवाद की प्रधानता है, तदपि उसमे जीवन के हर पहलुओ की व्याख्या भी बडे रोचक ढग से मिलती है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० की उपलब्ध कुछ रचनाओ का सकलन-आकलन जयवाणी ग्रन्थ मे किया गया है। जो (1) स्तुति (2) सज्झाय (3) उपदेशीय पद (4) चरित्र-चर्चा दोहावली के रूप मे चार खण्डो मे विभक्त है। उनके अतिरिक्त पूज्यश्री जयमल ज्ञान भण्डार पीपाड और श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार जपुयर से अनेक प्रकाशित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं और भी भण्डारो की अन्वेपणा-गवेपणा करने से बहुत सी रचनाओ के मिलने की आशा है। अत विद्वानो को इधर प्रयास करना चाहिए। अस्तु।

जैन आगम साहित्य द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और चरण करणानुयोग के रूप मे चार भागो मे विभक्त है। आचार्यश्री जयमल्ल जी म० ने द्रव्यानुयोग के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र न लिखकर कथा के माध्यम से यत्र-तत्र उसका निरूपण किया है। सम्यक्त्व, गुणस्थान, दण्डक, पाप, कर्म और मोक्ष आदि के सम्बन्ध मे उनकी स्फुट रचनाएँ भी मिलती हैं।

चरण करणानुयोग के सम्बन्ध मे कवि ने अनेक रचनाएँ बनाई हैं। सज्झाय स्तवन, चौबीसी आदि। धर्म कथानुयोग तो आचार्यश्री को अत्यधिक प्रिय रहा है। कथाओ के माध्यम से आध्यात्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि बातो का जितना सुन्दर चित्रण हो सकता है उतना अन्य माध्यम से नही। कहानी ही विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है। कथा के प्रति मानव का सहज आकर्षण है। उसमे जीवन की मधुरिमा अभिव्यजित होती है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने महाकाव्य की रचना नही की है। कथाओ की रचना मे इतिवृत्त की प्रमुखता है। उन्होने अपने कथा-काव्य को अध्याय और सर्गों मे विभक्त न कर ढालो मे विभक्त किया है। आगमिक कथाओ को ही उन्होने अपने काव्य में प्रमुखता दी है। काव्य कथा के मुख्य पात्र प्राय. राजघराने के, सामन्त व श्रेष्ठीजन हैं जो मोह पाश के बन्धन को तोडकर साधना के महामार्ग पर

वढते है। वढते समय अनेक परिषह आते हैं, पर जो परिपहो को जीतकर वीर योद्धा की तरह आगे वढता है वही अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

कर्मवाद जैन दर्शन की आधारशिला है। कर्मवाद का प्ररूपण करने के लिए पूर्व जन्म का निरूपण किया गया है। वर्तमान मे जो सुख-दुख उपलब्ध होते हैं उसका मुख्य कारण कर्म ही है। कर्म के कारण ही प्रतिनायक वनकर नायक से वदला लेता है। पर नायक क्षमा का वह आदर्श उपस्थित करता है जिसके कारण भव परम्परा का अन्त हो जाता है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज श्रमण सस्कृति के सन्त हैं। अत उनके काव्य मे लौकिक सुख की प्रमुखता नही। किन्तु अध्यात्मिक आनन्द की प्रमुखता है। उन्होने ससार के ऐश्वर्य का नही, किन्तु ससार की नश्वरता का वर्णन वडा ही सुन्दर किया है।

भृगु पुरोहित के चरित्र मे महारानी कमलावती सम्राट से कहती है—'राजन्! रत्नजडित पिंजडे मे तोते को आप भले ही वन्द कर दें, परन्तु वह उसे बन्धन ही समझता है। रहने को वढिया स्थान है, खाने को पकवान है और पीने को दूध है पर स्वतन्त्रता का आनन्द वहाँ कहाँ है? यही स्थिति मेरी भी है। ये विराट राजमहल, भौतिक वैभव मेरे लिए वन्धन स्वरूप हैं, एक क्षण के लिए भी मुझे इनमे आनन्द की उपलब्धि नही हो रही है—

"रत्न जडित हो राजाजी पिंजरो, सुवो तो जाणे है फद।
इसडी पण हूँ, थारा राज मे, रति न पाऊँ आणद॥"

आनन्द तभी मिलेगा जव हम कर्म वन्धन को तोडकर सयम को ग्रहण करेंगे—

"हस्ती जिम वन्धन तोडने, आपणे वन मे सुखे जाय।
ज्यूँ कर्म वन्धन तोडी सजम ग्रहाँ, होस्या ज्यूँ सुखी मुगत माय॥"

सयम का मार्ग कोई सरल मार्ग नही है, वह कटकाकीर्ण पथ है। उसपर चलना कितना कठिन है। देखिये आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज ने श्रमण जीवन की कठोर चर्या का कितना सजीव वर्णन किया है—

"मुनिवर मोटा, अणगार, करता उग्र विहार,
पड रही तावडे री भोट, तिरसा सूँ सूखा होट।
कठिन परिसो साधनो ए॥
तालवे कोई नही थूक, जीभ गई ज्यारी सूख,
होटो रे आई खरपटी ए॥

भगवान् नेमिनाथ पाणिग्रहण के लिए जाते हैं। उस समय वन्दी पशुओ के करुण-क्रन्दन को श्रवण कर उनका हृदय करुणा से आप्लावित हो जाता है। उनके हृद्तन्त्री के सुकुमार तार झनझना उठते है—

'परणी जण मे पापज मोटो, जीव हिंसा से सहज खोटो।
ए तो दीसे परतख तोटो, तो लेऊँ दया रो ओटो॥"

भ० नेमीश्वर उसी क्षण वन्दी पशुओ को मुक्त कर स्वय श्रमण बनने की तैयारी करते हैं। मुक्त पशुओ के अन्तर हृदय से आशीर्वचन निकलते है—

"गगन जाता जीव देवे आसीस के, पशु ने पखिया जगदीश।
जादव हिवे चिरंजीव हो, वलिहारी तुम वाप ने माय के॥
पुत्र रतन जिन जनमियो, स्वामी थे सारिया, अम्ह तणा काज के।
तीन भवन रो पायजो राज के, शील अखण्डित पालजो॥"

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० के काव्य मे वैराग्य-रस की प्रधानता होने पर भी शृंगार रस के सयोग-वियोग का सुन्दर चित्रण उनके काव्य मे हुआ है। सयोग का चित्रण सयम लेने के पूर्व नायक सासारिक विषयो मे आसक्त होता है—उस समय का है—

"चन्द्र वदन मृग-लोयणी जी, चपल लोचनी वाल।
हरी लकी मृदु भाषिणीजी, इन्द्राणी-सी रूप रसाल॥
प्रीतवती मुख आगले जी, मुलकंती मोहन बेल।
चतुराना मन मोहती जी, हँस-गमणी सूँ करता बहुकेल॥

भगवान् अरिष्टनेमि संयम ग्रहण कर लेते हैं। राजमती उनकी अपलक प्रतीक्षा कर रही है। उनके दर्शन के लिए उसकी आँखें तरस रही हैं। वह प्रिय दर्शन के लिए आतुर है। वह अपनी प्रिय सखियो को उनका पत्र लाने और उपालभ भेजने के लिए कहती है—

तरसत अखियाँ हुई द्रुम-पखियाँ, जाय मिलो पिवसूँ सखियाँ।
यदुनाथ जी रे हाथ री ल्यावे कोई पतियाँ, नेमनाथजी-दीनानाथ जी।"

राजमती अपने प्रियतम को उपालभ देती है कि तुम मुझे छोडकर साधु क्यो बन गये। वह अपनी दासियो से कहती है कि तुम यदि उनका सन्देश लाओगी तो मैं तुम्हे विविध आभूपणो से लाद दूँगी—

"जाकूँ दूंगी जरावरो गजरो, कानन कूँ चूनी मोतिया।
अगुरी कूँ मूंदडी, ओढन कूँ फमडी, पेरण कूँ रेशमी धोतिया॥"

प्रियतम के अभाव मे महल भी जेल के समान है और चारु चन्द्र की चचल किरणें भी तन को दग्ध करने वाली है—

"महल अटारी, भए कटारी, चद-किरण तनूँ दाझतिया ॥"

इस प्रकार जय-काव्य मे विरह के रसीले चित्र हैं। राजमती अन्त मे साधिका वनकर अपने जीवन को परम पवित्र वनाती है। शृ गार-रस शान्तरस की पीठिका वनकर उपस्थित हुआ है।

वात्सल्य रस का अकन भी अत्यन्त सजीव हुआ है। माता देवकी का मातृ-हृदय अपने प्यारे पुत्रो को निहार कर किस प्रकार वरसती नदी की तरह उमडता है। देखियें कवि ने लिखा है—

"तडाक से तूटी कस कचू तणी रे, भण रे तो छुटी दुधधार रे।
हिवडा माहे हर्ष मावे नही रे, जाणे के मिलियो मुझ करतार रे॥
रोम-रोम विकस्या, तन-मन अलस्या रे, नयणे तो छूटी आँसू धार रे।
विलिया तो वाँहा माहे मावे नही रे, जाणे तूट्यो मोत्या रो हार रे॥

वियोग वात्सल्य का वर्णन भी दर्शनीय है। माता देवकी के सात-सात पुत्र हुए, पर उसने किसी का भी लाड-प्यार नही किया, खिलाया पिलाया नही, एतदर्थ उसका मातृ हृदय पश्चाताप की आग मे झुलस रहा है। अपने आँखो के तारे, नयनों के सितारे श्रीकृष्ण से कहती है—

'जाया मैं तुम सरिखा कन्हैया, एकण नाले सात रे।
एकण ने हुलरायो नही कन्हैया, गोद न खिलायो खण मात रे॥
रोवतो मैं राख्यो नही कन्हैया, पालणिये पौढाय रे।
हालरियो देवा तणी, कन्हैया, म्हारे हूँस रही मन माय रे।"

वियोग वात्सल्य का ऐसा स्पष्ट चित्र महाकवि सूर के काव्य मे भी नही आ सकता है।

माँ देवकी अपने प्यारे लाल गजसुकुमार से किस प्रकार प्यार करती है? उसकी किलकारियो पर वह झूम उठती है। उसे किस प्रकार खिलाती-पिलाती है, वस्त्र आदि पहनाती है। कवि के शब्दो मे देखिये—

"जी हो आखडली अजावन्नी, लाल भाल करावण चन्द।
जी हो गाला टीकी साँवली, लाला, आलिंगन आनन्द॥
जी हो पग माडण ग्रही अगुली, लाला, ठुमक-ठुमक री चाल।
जी हो वोलण भापा तोतली, लाला, रिझावण अतिस्याल॥

जी हो दही रोटी जिमावणो, लाला अरु चबावण तबोल ।
जी हो सुख सु मुख मे दिरीजता, लाला लीला अधर अमोल ॥"

इस प्रकार आपकी रचनाओ मे वीर, रौद्र, करुण और शान्तरस का वर्णन भी यथास्थान आया है। हास्य और व्यग्य के मनोरम प्रसग भी दिल को लुभाने वाले हैं।

मानव पाप कृत्य करते समय प्रमुदित होता है, पर जिस समय पाप का फल प्राप्त होता है उस समय वह किस प्रकार करुण-क्रन्दन करता है। नारकीय जीव किस तरह कष्ट भोगते हैं, उससे वह बचना चाहता है, पर बच नही पाता है—

"सुसाडा करता रे, सुर शेष धरता रे,
दश दिन का भूखा रे, खावण ने ढूका रे।
कूकारे पाडे-कहे देव छोडावजो रे ॥
साभल वहु आया रे, दोडी ने थाया रे,
दाँतो सूँ काटे रे, वेर आगला बाढे रे।
कुण काढे-ए नर बलवत इसो रे ॥"

पुण्य और पाप के फल ससार मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, उसके लिए आगम आदि प्रमाणो की भी आवश्यकता नही है। पुण्यवानी की प्रबलता से जीव सुख के सागर पर तैरता है और पाप की अधिकता से दुःखाग्नि मे झुलसता है। देखिये कवि ने लिखा है—

"एक चढे छे पालखी रे बोहला चाले छे जी लार।
एकण रे सिर पोटली जी, पगा नही पेंजार रे,
रे प्राणी पाप पुण्य फल जोय ॥
एक-एक मानव एहवा जी, रोग सोग नही थाय।
एकीकाँ का डील को जी टसको कदे न जाय ॥
एक-एक बत्ती से अग भण्या जी, कहे ठामो जी ठाम।
एकण के पूरा नही चढे जी, छकायाँ का नाम रे ॥"

कवि सासारिक प्राणियो को उद्बोधन देता हुआ कहता है कि तुम पाप क्यो बांधते हो। पाप का फल तुम्हे स्वय को भोगना पडेगा।

'कुटुम्ब कारण कर्म बाँधने, पड़ियो नरका मे जाय।
एकलडो दुख भोगवे कुण ल्यावे छुडाय ॥"

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० प्रथम साधक और बाद मे कवि हैं। यही

कारण है कि उनके काव्य मे कारीगरी और कलावाजी नही, हृदय की निष्कपट अभिव्यक्ति है। अलकारो का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु चमत्कार प्रदर्शन के लिए नही, भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए। सादृश्य मूलक अलकारो का प्रयोग ही विशेष रूप से हुआ है। उनमे भी उपमा और रूपक अलकार के प्रति कवि का विशेष आकर्षण है। उसमे उपमाओ का चुनाव वडी सजगता से किया है। उसमे उनकी पैनी दृष्टि निहारी जा सकती है। देखिए कतिपय उदाहरण हैं—

(१) आयु घटती जाय छे, जिम अजली नो पाणी।'

(२) नेम कवर रथ वैठा छाजे ग्रह नक्षत्र मे जिम चन्द्र विराजे॥

(३) अथिर ज जाणो रे थारो आउखो जियम पाको पीपल पान॥

(४) चार गतिना रे दु ख कह्या जीवे अनंति-अनति वार लह्या,
पची रह्यो जिम तेल वडो श्री शन्ति जिनेश्वर शान्ति करो॥

(५) काल खडो थारे वारणे जिम तोरण आयो वीन्द॥

जय काव्य मे रूपक का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। मुख्य रूप से कवि ने साग रूपक का प्रयोग दिया है।

क्षमा-गढ मे प्रविष्ट होने के लिए द्वादश भावना रूपी नाल की चढाई आठ कर्म रूपी किवाडो को तोडने का वर्णन कवि इस प्रकार कर रहा है—

'म्हारे क्षमागढ-मांय, फोजा रहसी चढी री माई,
बारे भेदे तप तणी, चोको खडी।
वारे भावना नाल, चढाऊँ कागरे-री माई,
तोडूं आठे कर्म, सफल कार्य सरे॥"

कवि आध्यात्मिक दीवाली का वर्णन करता हुआ कहता है कि काया की हवेली को तप से उज्ज्वल करना है, क्षमा के खाजे, वैराग्य के घेवर तथा उपशम के मोवण से मोतीचूर वनाने हैं—

'काया रूपी हवेलियां तपस्या करने रेल।
सूंस बरत कर माडणो, विनय भाव वर वेल॥
क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर।
उपशम मोवण घालने, मदवो मोतीचूर॥"

आत्मा एक वार कर्मो से मुक्त हो जाता है तो फिर वह कभी कर्मबद्ध नही होता। क्योकि उस समय कर्मवन्ध के कारणो का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के जल जाने पर पुन अकुर की उत्पत्ति नही होती वैसे ही कर्मरूपी वीज के जल जाने पर ससार रूपी अकुर की उत्पत्ति नही होती—

दग्धे बीजे यथात्यन्त, प्रादुर्भवति नाङ्कुर ।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ।।

तत्वार्थ भाष्यगत अन्तिम कारिका का आचार्यश्री जयमल जी म० ने अपनी भाषा मे इस प्रकार अनुवाद किया है—

'दग्ध बीज जिम धरती व्हाया, नहिं मेले अंकुर जी ।
तिम हीज सिद्ध जी, जन्म-मरण री करदी उत्पत्ति दूर जी ।।"

छन्द विधान की दृष्टि से जैन कवि बडे उदार रहे हैं। शास्त्रीय छन्दो की अपेक्षा लौकिक छन्दों मे विविध प्रयोग उन्होने बडी दक्षता के साथ किये है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० ने दोहा, सोरटा, ढाल आदि मे अपनी रचनाएँ लिखी है। सगीत तत्व इनकी कविता की एक विशेपता है। उनकी सभी रचनाएँ गेय हैं। ढालो को भी विभिन्न राग-रागिणियो मे लिखा है।

आचार्यश्री जयमल्ल जी म० की भाषा राजस्थानी है। उस पर कवि का पूर्ण अधिकार है। भाषा भावो के अनुकूल चलती है। उसमे प्रवाह है, माधुर्य है, ओज है, सरलता व सरसता है। उसमे पारिभाषिक शब्दो की बहुलता है।

वस्तुत. आचार्य श्री जयमल्ल जी म० की रचनाएँ हिन्दी साहित्य भण्डार की अनमोल निधि है। आपकी बहुमूल्य समस्त रचनाएँ उपलब्ध होने पर निश्चय ही भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि होगी। ब्रज, भोजपुरी, अवधी, प्रभृति भाषा के साहित्य की अपेक्षा राजस्थानी साहित्य अधिक समृद्ध है। किन्तु परिताप का विषय है कि आज भी अधिकाश राजस्थानी साहित्य अभी तक अप्रकाशित है। भण्डारो की चार दीवारो मे वन्द होने के कारण विज्ञो के लिए अनुपलब्ध हैं। आशा है आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज का सम्पूर्ण साहित्य उनके उत्तराधिकारी मुनिवर शीघ्र ही प्रकाश मे लायेगे तो साहित्य की महान् सेवा होगी।

सक्षेप मे आचार्यश्री जयमल्ल जी महाराज का व्यक्तित्व जितना मधुर, आकर्षक एव गभीर था कृतित्व भी उतना ही तेजस्वी, बहुमुखी और गौरव पूर्ण था।

(जयध्वज की प्रस्तावना से)

६
स्थानकवासी परम्परा के एक आध्यात्मिक कवि श्री नेमीचन्द जी महाराज

सन्त साहित्य भारतीय साहित्य का जीवन-सत्व है। साधना के अमर-पथ पर निरन्तर प्रगति करते हुए आत्मवल के धनी सन्तो ने जिस सत्य के दर्शन किये उसे सहज, सरल एव वोधगम्य वाणी द्वारा 'सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय' अभिव्यक्त किया। जीवन काव्य के रचयिता, आत्मसगीत के उद्‌गाता, सतो ने अपनी विमल वाणी मे जो अनमोल विचार रत्न प्रस्तुत किये हैं वे युग-युग तक मानवो को अन्तस्-श्रेयस की ओर प्रतिपल-प्रतिक्षण वढने की पवित्र प्रेरणा देते रहेगे। सन्तो के विचारों की वह अमर ज्योति जो हृदयस्पर्शी पदो मे व्यक्त हुई है, वह कभी भी वुझ नही सकती। उसका शाश्वत प्रकाश सदा जगमगाता रहेगा। उनकी काव्य सुरसरि का प्रवाह कभी सूखेगा नही, किन्तु वहता ही रहेगा। जिसका सेवन कर मानव अमरत्व को उपलब्ध कर सकता है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक क्रान्तद्रष्टा, विचारक सत थे। वे विकारों व रूढियो से लडे और स्थिति पालको के विरुद्ध उन्होने क्रान्ति का शख फूंका, विपरीत परिस्थितियाँ उन्हे डिगा नही सकी, और विरोध उन्हे अपने लक्ष्य से हिला नही सका। वे मेरु और हिमाद्रि की तरह सदा स्थिर रहे, जो उनके जीवन की अद्‌भुत सहिष्णुता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता का प्रतीक है। वे सत्य को कटु रूप मे कहने मे भी नहीं हिचके यही कारण है कि उनकी कविता मे कवीर का फक्कडपन है, और आनन्दघन की मस्ती है तथा समयसुन्दर की स्वाभाविकता है। साथ ही उनमे ओज, तेज और सवेग है।

कवि वनाये नही जाते किन्तु वे उत्पन्न होते है। यद्यपि कविवर नेमीचन्द जी महाराज ने अलकार-शास्त्र, रीति ग्रन्थ और कवित्व का विधिवत शिक्षण प्राप्त किया हो ऐसा ज्ञात नही होता। जव हृदय मे भावो की वाढ आयी और वे वाहर निकलने के लिए छटपटाने लगे तव सारपूर्ण शव्दो का सम्वल पाकर कविता वन गयी। कवि पर काव्य नही किन्तु काव्य पर कवि छाया है उनके कवित्व मे व्यक्तित्व और व्यक्तित्व मे कवित्व इस तरह समाहित हो गया है, जैसे जल और तरग! उनकी अपनी शैली है, लय है, कम्पन है और सगीत है।

उनकी कविताओ मे कही कमनीय कल्पना की ऊँची उडान है, कही प्रकृति नटी का सुन्दर चित्रण है तो कही शव्दो की सुकुमार लडियाँ और कड़ियाँ हैं, भक्ति व शान्तरस के साथ-साथ कही पर वीररस और कही पर करुणरस प्रवाहित हुआ है। यह सत्य है कि कवि की सूक्ष्म-कल्पना प्रकृति-चित्रण करने की अपेक्षा मानवीय भावो का आलेखन करने मे अधिक सक्षम रही है। कवि के जीवन मे आध्यात्म का अलौकिक तेज निखर रहा है, उसकी वाणी तप पूत है और उसमे संगीत की मधुरता भी है।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज एक विलक्षण प्रतिभासम्पन्न सन्त थे। वे आशुकवि थे, प्रखर प्रवक्ता थे, आगम साहित्य, धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे और सरल, सरस लोकप्रिय काव्य के निर्माता थे।

नेमीचन्द जी महाराज का लम्बा कद, श्याम वर्ण, विशाल भव्य भाल, तेजस्वी नेत्र, प्रसन्न वदन, और श्वेत परिधान से ढके हुए रूप को देखकर दर्शक प्रथम दर्शन मे ही प्रभावित हो जाता था। वह ज्यो-ज्यो अधिकाधिक मुनिश्री के सम्पर्क मे आता, त्यो-त्यो उसे सहजता, सरलता, निष्कपटता, स्नेही स्वभाव, उदात्त चिन्तन व आत्मीयता की सहज अनुभूति होने लगती है।

आपश्री का जन्म विक्रम सवत् १९२५ मे आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को उदयपुर राज्य के वगडुन्दा (मेवाड) मे हुआ। आपके पूज्य पिताश्री का नाम देवी लाल जी लोढा और माता का नाम कमलादेवी था।

वचपन से ही आपका झुकाव सन्त-सतियो की ओर था। प्रकृति की उन्मुक्त गोद मे खेलना जहाँ उन्हे पसन्द था, वहाँ उन्हे सन्त-सतियो के पावन उपदेश को सुनना भी वहुत ही पसन्द था।

आचार्य सम्राट पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज के छट्ठे पट्टधर आचार्यश्री पूनमचन्द जी म० एक वार विहार करते हुए बगडुन्दा पधारे। पूज्यश्री के त्याग-वैराग्ययुक्त प्रवचनो को सुनकर आपश्री के मन मे वैराग्य भावना उद्‌बुद्ध हुई और आपने दीक्षा लेने की उत्कट भावना अपने परिजनो के समक्ष व्यक्त की। किन्तु पुत्र-प्रेम के कारण उनकी आँखो से अश्रु छलक पडे। उन्होने अनेक अनुकूल और प्रति-कूल परीषह देकर उनके वैराग्य का परीक्षण किया, किन्तु जव वैराग्य का रंग धुधला न पडा तब विक्रम सम्वत् १९४० मे फाल्गुन शुक्ल छठ को वगडुन्दा ग्राम मे आचार्य प्रवर श्री पूनमचन्दजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आप मे असाधारण मेधा थी। अपने विद्यार्थी जीवन मे इकतीस हजार पद्यो को कण्ठस्थ कर अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। आचाराग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, विपाक आदि अनेक शास्त्र आपने कुछ ही दि नोमे

कण्ठस्थ कर लिये और सैकडो थोकडे (स्तोक) भी कण्ठस्थ किये। आपने अठाणु वोल का वासठिया एक मुहूर्त्त मे याद कर सभी को विस्मित कर दिया।

आप आशुकवि थे, चलते-फिरते, वार्तालाप करते या प्रवचन देते समय जब भी इच्छा होती तब आप कविता वना देते थे।

एक बार आप समदडी गाँव मे विराज रहे थे। पोष का महीना था, बहुत ही तेज सर्दी पड रही थी। रात्रि मे सोने के लिए एक छोटा-सा कमरा मिला। छह साधु उस कमरे मे सोये। असावधानी से रजोहरण की दण्डी पर पैर लग गया, जिससे वह दण्डी टूट गयी। आपने उसी समय निम्न दोहा कहा—

"ओरी मिल गयी साकडी, साधू सूता खट्ट।
नेमीचन्द री डाडी भागी, वटाक देता बट्ट ॥"

आपश्री ने रामायण, महाभारत, गणधर चरित्र, रुक्मिणी मगल, भगवान् ऋषभदेव, भगवान् महावीर आदि पर अनेक खण्डकाव्य और महाकाव्य विभिन्न छन्दो मे बनाये थे किन्तु आपश्री उन्हे लिखते नही थे, जिसके कारण आज वे अनुपलब्ध हैं। क्या ही अच्छा होता यदि वे स्वय लिखते या अन्यो से लिखवाते तो वह वहुमूल्य साहित्य सामग्री नष्ट नही होती।

आप प्रत्युत्पन्न मेधावी थे। जटिल से जटिल प्रश्नो का समाधान भी शीघ्रातिशीघ्र कर देते थे। आपश्री के समाधान आगम व तर्कसम्मत होते थे। यही कारण है कि गोगुन्दा, पचभद्रा, पारलू आदि अनेक स्थलो पर दया-दान के विरोधी सम्प्रदाय वाले आपसे शास्त्रार्थ मे परास्त होते रहे।

एक वार आचार्य प्रवर श्री पूनमचन्द जी महाराज गोगुन्दा विराज रहे थे। उस समय एक अन्य जैन सम्प्रदाय के आचार्य भी यहाँ पर आये हुए थे। मार्ग मे दोनो आचार्यो का मिलाप हो गया। उन आचार्य के एक शिष्य ने आचार्यश्री पूनमचन्द जी महाराज के लिए पूछा—"थाने भेख पेहरयाँ ने कितराक वरस हुआ है?" कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज ने उस साधु को भाषा समिति का परिज्ञान कराने के लिए उनके आचार्य के सम्बन्ध मे पूछा। "थाने हाँग पेहर्या ने कितराक वरस हुआ है?" यह सुनते ही वह साधु चौक पडा और वोला—'यो काई वोलो हो?" आपने कहा—'हम तो सदा दूसरो के प्रति पूज्य शब्दो का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु आपने हमारे आचार्य के लिए जिन निकृष्ट शब्दो का प्रयोग किया, उसी का आपको परिज्ञान कराने हेतु मैंने इन शब्दो का प्रयोग किया है,।" साधु का सिर लज्जा से झुक गया और 'भविष्य मे इस प्रकार के शब्दो का हम प्रयोग नही करेंगे' कह कर उसने क्षमायाचना की।

आपश्री के वडे गुरुभ्राता श्री ज्येष्ठमल जी महाराज थे, जो एक अध्यात्म-योगी सन्त थे। रात्रि भर खडे रह कर ध्यान-योग की साधना करते थे, जिससे

उनकी वाचा सिद्ध हो गयी थी। और वे पचम आरे के केवली के रूप मे विश्रुत थे। उनके दिव्य प्रभाव से प्रभावित होकर आपश्री भी ध्यानयोग की साधना किया करते थे। ध्यानयोग की साधना से आपका आत्मतेज इतना अधिक बढ गया था कि भय-प्रद स्थान मे भी आप पूर्ण निर्भय होकर साधना करते थे।

एक बार आपश्री का चातुर्मास निम्बाहेडा (मेवाड) मे था। वहाँ पर साहडो की एक छह मजिल की भव्य बिल्डिग थी। उस हवेली मे कोई भी नही रहता था। महाराज श्री ने लोगो से पूछा—यह हवेली खाली क्यो पडी है इसमे लोग क्यो नही रहते हैं जबकि गाँव मे यह सबसे बढिया हवेली है। लोगो ने भय से काँपते हुए कहा—महाराजश्री! इस हवेली मे भूत का निवास है जो किसी को भी शान्ति से रहने नही देता। महाराजश्री ने कहा—यह स्थान बहुत ही साताकारी है। हम इसी स्थान पर वर्षावास करेंगे। लोगो ने महाराजश्री को भयभीत करने के लिए अनेक बातें कही, किन्तु महाराज श्री ने उनकी बातो पर ध्यान न देकर वही चातुर्मास किया। चार माह तक किसी को कुछ भी नही हुआ। आध्यात्मिक साधना से भूत का भय मिट गया।

इसी तरह कम्बोल गाँव मे सेठ मनरूपजी लक्ष्मीलाल जी सोलकी का मकान भयप्रद माना जाता था। वहाँ पर भी चातुर्मास कर उस स्थान को भयमुक्त कर दिया।

वि० स० १९५९ मे नेमीचन्द जी महाराज तिरपाल पधारे, और आपश्री के उपदेश से श्री प्यारचन्द जी भैरुलालजी दोनो भ्राताओ ने भागवती दीक्षा ग्रहण की और माता तीजाबाई ने तथा सोहनकुँवरजी ने भी महासती रामकुँवरजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। महासती सोहनकुँवरजी महाराज बहुत ही भाग्यशाली, प्रतिभा सम्पन्न एव चरित्र निष्ठा सती थी।

आपश्री की प्रवचन शैली अत्यधिक चित्ताकर्षक थी। आगम के गहन रहस्यो को जब लोक-भाषा मे प्रस्तुत करते थे तब जनता झूम उठती थी। आपकी मेघ गम्भीर गर्जना को सुनकर श्रोतागण चकित हो जाते थे। रात्रि के प्रवचन की आवाज शान्त वातावरण मे दो मील से अधिक दूर तक पहुँचती थी। और जब श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र का वर्णन करते, उस समय का दृश्य अपूर्व होता था।

कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज श्रेष्ठ कवि थे। उनका उदय हमारे साहित्या-काश मे शारदीय चन्द्रमा की तरह हुआ। उन्होने निर्मल व्यक्तित्व और कृतित्व की शारदीय स्निग्ध ज्योत्सना से साहित्य ससार को आलोकित किया तथा दिग्दिगन्त मे शुभ्र शीतल प्रभाव को विकीर्ण करते रहे। वे एक ऐसे विरले रस सिद्ध कवियो मे से थे, जिन्होने एक ही साथ अज्ञ और विज्ञ, साक्षर-निरक्षर सभी को समान रूप से प्रभावित किया। उनकी रचनाओ मे जहाँ पर आत्म-जागरण की स्वर लहरी

झनझना रही है, वहाँ पर मानवता का नाद भी मुखरित है। जन-जन के मन में आध्यात्मवाद के नाम पर निराशा का सचार करना कवि को इष्ट नही है, किन्तु वह आशा और उल्लास से कर्मरिपु को परास्त करने की प्रवल प्रेरणा देता है। पराजितो को विजय के लिए उत्प्रेरित करता है।

मुनिश्री की उपलव्ध सभी रचनाओ का संकलन "नेमवाणी" के रूप मे मैंने किया है। नेमवाणी का पारायण करते समय पाठक को ऐमा अनुभव होता कि वह एक ऐसे विद्युत ज्योतित उच्च अट्टालिका के वन्द कमरे मे वैठा हुआ है, दम घुट रहा है, कि सहसा उसका द्वार खुल गया है और पुष्पोद्यान का शीतल मन्द समीर का झौका उसमे आ रहा है, जिससे उसका दिल व दिमाग तरो-ताजा वन रहा है। कभी उसे गुलाव की महक का अनुभव होता है तो कभी चम्पा की सुगन्ध का। कभी केतकी केवडे की सौरभ का परिज्ञान होता है तो कभी जाई जुही की मादक गन्ध का।

प्रस्तुत कृति का निर्माण काल, सवत् १९४० से १९७५ के मध्य का है। उस युग मे निर्मित रचनाओ के साथ आपके पद्यो की तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि आपके पद्यो मे नवीनता है, मंजुलता है, और साथ ही नया शब्द-विन्यास भी। मुख्यत राजस्थानी भाषा का प्रयोग करने पर भी यत्र-तत्र विशुद्ध हिन्दी व उर्दू शब्दो का प्रयोग भी हुआ है। सन्त कवि होने के नाते भाषा के गज से कविता को नापने की अपेक्षा भाव से नापना अधिक उपयुक्त है।

नेमवाणी की रचनाएँ दो खण्डो मे विभक्त है। प्रथम खण्ड मे विविध विषयो पर रचित पद हैं, तो द्वितीय खण्ड मे चरित्र है। प्रथम खण्ड मे जो गीतिकाएँ गई है उनमे कितनी ही गीतिकाएँ स्तुतिपरक हैं। कवि का भावुक भक्त हृदय प्रभु के गुणो का उत्कीर्तन करता हुआ अघाता नही है। वह स्वय तो झूम-झूम कर प्रभु के गुणो को गा ही रहा है, साथ ही अन्य भक्तो को प्रेरणा दे रहा है कि तुम भी प्रभु के गुणो को गाओ।

"नवपद को भवियण ध्यान धरो।
यो पनरिया यत्र तो शुद्ध भरो ·"

कवि सन्त हैं, ससार की मोह माया मे भूले-भटके प्राणियो का पथ-प्रदर्शन करना उनका कार्य है। वह जागृति का सन्देश देता है—कि क्यो सोये पड़े हो? उठो! जागो! और अपने कर्त्तव्य को पहचानो! कवि के शब्दो मे ही देखिए—जागृति का सन्देश—

"कुण जाणे काल का दिन की
या दिन की, तन की, धन की रे ·
एक दिन मे देव निपजाई
या द्वारापुरी कचन की रे · ···

अभिमान का काला नाग जिसे डस जाता है, वह स्व-रूप को भूल जाता है और पर-रूप मे रमण करने लगता है, कवि उसे फटकारता हुआ कह रहा है—

"मिजाजी ढोला, टेढा क्यो चालो छकिया मान मे।
मदिरा का झोला,
जैसे तू आयी रे तोफान मे ॥
टेढी पगडी बंट के जकडी,
ढके कान एक आँख।
पटा वंक सा विच्छु डंक सा,
रहा दर्पण मे मुख झाक ॥

आगमिक तात्विक वातो को भी कवि ने अत्यधिक सरल भाषा मे सगीत के रूप मे प्रस्तुत किया है। कवि गुणस्थानो की मार्गणा के सम्वन्ध मे चिन्तन करता हुआ कहता है—

"इण पर जीवड़ो रे गुणठाणे फिरे ॥
प्रथम गुणस्थाने रे मारग चार कह्या,
तीन चार पच सातो रे।
गुण ठाणे दूजे रे मारग एक छे,
पडता पँले मिथ्यातो रे ॥"

द्रव्य-नौकरी की तरह कवि भाव-नौकरी का वर्णन करता है—सम्यग्दृष्टि जीव से लेकर जिनेश्वर देव तक नौकरी का चित्रण करते हुए कवि लिखता है—

"काल अनन्ता हो गया सरे, कर्जा बढ़ा अपार।
खर्चा को लेखो नही सरे, नफा न दीसे लगार रे ॥
अति मेगाई घर मे तगाई, अर्ज करू तुम साथ।
दरबार सूं कुण मिलण देवे, बात मुसुद्दी हाथ।"

लौकिक त्योहार, शीतला का, कवि आध्यात्मिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण करता है। शीतला का शीतल पदार्थों से पूजन होता है तो कवि क्षमा रूपी माता शीतला का पूजन इस प्रकार करता है—

"सम्यक्त रग की मेहदी है राची, थारा रूप तणो नही पार।
मद्दव रूप खर की असवारी, खूब किया सिणगार है ॥
म्हारी भाव भवानी क्षम्या माता ए पूजूं शीतला।
दान सीतल तप भावना सरे, देव गुरु ने धर्म ॥
शील शातम ये सातो पूजियाँ, तूटे आठो ही कर्म है।
म्हारी भाव भवानी क्षम्या माता ए पूजूं शीतला ॥

स्थानांग सूत्र मे वैराग्य-उत्पत्ति के दस कारण बताये हैं। कवि ने उसी बात को कविता की भाषा मे इस रूप मे रखा है—

"सुणो-सुणो नर-नार, वैराग उपजे जीव ने दश परकार ।
ज्यारो घणो अधिकार, शास्त्र मे ज्यारो है बहु विस्तार ॥
पहले बोले साधुजी रो दर्शन होय ।
मृगापुत्र नी परे ''' '''लीजोजी जोय ॥

इसी तरह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के आधार से आपने 'भरत पच्चीसी' का निर्माण किया जिसमे सक्षेप मे सम्राट भरत के पट्खण्ड के दिग्विजय का वर्णन है ।

दौलत मुनि हस मुनि की कम्बल तस्कर ले जाने पर आपश्री ने भजन निर्माण किया, जिसमे कवि की सहज प्रतिभा का चमत्कार देखा जा सकता है ।

पूज्यश्री पूनमचन्द जी महाराज के जीवन का सक्षेप मे परिचय भी दिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

निह्नव सप्तढालिया का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है । कवि मानवता का पुजारी है, मानवता के लिये विरोधियो पर उसकी वाणी अगार बनकर बरसती है, अनाचार की धुरी को तोडने के लिए और युग की तह मे छिपी हुई बुराइयो को नष्ट करने के लिए उनका दिल क्रान्ति से उद्वेलित हो उठा है । वे विद्रोह के स्वर मे बोले हैं, उनकी कमजोरियो पर तीखे बाण कसे हैं और साथ ही अहिंसा की गम्भीर मीमासा प्रस्तुत की है ।

पक्खी की चौबीसी मे अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक, और आगमिक कथाएँ दी गयी हैं और क्षमा का महत्व प्रतिपादन किया गया है । लोक कथायें भी इसमे आयी हैं ।

नेम-वाणी के उत्तरार्द्ध मे चरित्र कथाएँ हैं । क्षमा के सम्बन्ध मे गजसुकुमार, राजा प्रदेशी, स्कन्दक मुनि और आचार्य अमरसिंहजी महाराज आदि के चार उदाहरण देकर विषय का प्रतिपादन किया है । दान, शील, तप और भावना के चरित्र मे एक-एक विषय पर एक-एक कथा दी गयी है । नमस्कार महामन्त्र पर तीन कथाएँ दी गई हैं । महाव्रत की सुरक्षा के लिए ज्ञाताधर्मकथा की कथा को कवि ने बडे ही सुन्दर रूप से चित्रित किया है । लकापति रावण की प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर महारानी मन्दोदरी सीता के सन्निकट पहुँची । उसने रावण के गुणो का उत्-कीर्तन किया, किन्तु जब सीता विचलित न हुई और वह उल्टे पैरो लौटने लगी तब सीता ने उसे फटकारते हुए कहा—

"पाछी जावण लागी बोल वचन सुण अबको ।
उभी रहे मन्दोदरी नार लेती जा लबको ॥
अब सुण ले मेरी बात राज जो रूठो ।
थाने लाम्बी पहरासी हाथ हियो क्यो फूटो ।
थारो अल्प दिनो को सुख जाणजे खूटो ।

यो सतियो केरो मुख वचन नही झूठो।
मो वचन जो झूठो होय जगत् होय डवको ॥"

जब लक्ष्मण ने रावण पर चक्र का प्रयोग किया, उस समय का सजीव चित्रण कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पढते ही पाठक की भुजाएँ फडफडाने लगती हैं। रणभेरी की गूँज, वीर हृदय की कड़क और कायर-जन की धडक स्पष्ट सुनायी देती है। देखिए—

"लक्ष्मण कलकल्यो कोप मे परजल्यो,
कडकडी भीड ने चक्र वावे।
आकाशे भमावियो सणण चलावियो,
जाय वैरी नो शिरच्छेद लावे ॥
हरि रे कोपावियो चक्र चलावियो ॥"

जोधपुर के राजा की लावणी मे क्रूर काल की छाया का सजीव चित्रण किया गया है। मानव मन मे विविध कल्पनाएँ करता है और भावी के गर्भ मे क्या होने वाला है, उसका उसे पता नही होता। चेतन चरित्र मे भावना प्रधान चित्र हुआ है। वस्तुत इस चरित्र मे कवि की प्रतिभा का पूर्णरूप से निखार हुआ है। इसमे शान्तरस की प्रधानता है। कवि की वर्णन शैली आकर्षक है।

इस प्रकार कविवर्य नेमीचन्द जी महाराज की कविता का भाव और कलापक्ष अत्यन्त उज्ज्वल व उदात्त है। जैन श्रमण होने के नाते उनकी कविता मे उपदेश की भी प्रधानता है। साथ ही मानव-जीवन का चरमोत्कर्ष ही उनकी कविता का संलक्ष्य है। कविवर्य का जीवन साधनामय जीवन था और १९८५ वि० सं० मे छीया का अकोला गाँव मे आपका चातुर्मास था। शरीर मे व्याधि होने पर सल्लेखना पूर्वक सथारा कर कार्तिक शुक्ला पचमी को आप स्वर्गस्थ हुए। आपका विहार-स्थल मेवाड, मारवाड, मालवा, ढूँढार प्रभृति रहा है।

आपश्री अपने युग के एक तेजस्वी सन्त थे। आपने विराट् कविता साहित्य का सृजन किया। आपकी कविता स्वान्त सुखाय होती थी। आपने अपने व्यक्तित्व के द्वारा जैनधर्म की प्रबल प्रभावना की। आप दार्शनिक थे, वक्ता थे, कवि थे, और इन सबसे बढकर सन्त थे। आपका व्यक्तित्व और कृतित्व दिल को लुभाने वाला और मन को मोहने वाला था।

१०

चतुर्मुखी प्रतिभा के धनी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी महाराज

परम श्रद्धेय राजस्थान केसरी पूज्य गुरुदेवश्री पुष्कर मुनिजी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के जाने-माने और पहचाने हुए एक महान सन्त रत्न हैं। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना नयनाभिराम है, उसमे भी अधिक अन्दर का जीवन मनोभिराम है।

सद्गुरुदेव की वाह्य आकृति को देखकर दर्शक को अजन्ता और एलोरा की भव्य मूर्तियाँ सहज ही स्मरण हो आती है। विशाल देह, लम्बा कद, दीप्तिमान, निर्मल गौर वर्ण, प्रशस्त भाल, उन्नत शीर्ष, दीप्त खल्वाट, मस्तक, नुकीली ऊँची नाक, उन्नत वक्ष, प्रवल मासल भुजाएँ, तेजपूर्ण शान्त मुख-मण्डल प्रेम-पीयूप वर्पाते हुए उनके दिव्य नेत्र को देखकर दर्शक मुग्ध हुए विना नही रहता। उसमे सागर का विस्तार है, पौरुष का समुद्र ठाठें मार रहा है एव दूसरी ओर करुणा का मेघ वर्पन भी हो रहा है। पुरुपत्व और मसृणता का ऐसा पु जीभूत व्यक्तित्व दूसरा देखने को मिलना कठिन है।

आप कभी भी उनकी मजुल मुखाकृति पर निखरती हुई चिन्तन की दिव्य आभा, प्रभा देख सकते हैं। उदार आँखो के भीतर से छलकती हुई सहज स्नेह-सुधा का पान कर सकते है। वार्तालाप मे सरस शालीनता, सयमी जीवन की विवेक विम्बित क्रियाशीलता, जागृत मानस की उच्छल सवेदनशीलता, उदात्त उदारता को परख सकते हैं। प्रेम की पुनीत प्रतिमा, सरसता सरलता की सुन्दर निधि दृढ सकल्प और अद्भुत कार्यक्षमता से युक्त गुरुदेवश्री का बाह्य और आभ्यन्तर व्यक्तित्व वडा ही दिलचस्प और विलक्षण है।

सरलता को प्रतिमूर्ति

श्रमण भगवान महावीर ने कहा कि सरलता साधना का महाप्राण है, चाहे गृहस्थ साधक हो, चाहे सयमी साधक हो, दोनो के लिए सरलता, निष्कपटता, अदभता आवश्यक ही नही अनिवार्य है। घृतसिक्त पावक के समान सहज सरल साधना ही निर्धूम होती है, निर्मल होती है।

सोही उज्जूय भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाण परम जाइ, घयसित्तेव पावए ॥

सद्गुरुदेव नख से शिख तक सरल हैं, निर्दम्भ है। जैसे अन्दर है वैसे ही बाहर हैं, उनकी वाणी सरल है, विचार सरल हैं और जीवन का प्रत्येक व्यवहार भी सरल है। कही पर भी छुपाव नही है, दुराव नही है। टेढे-मेढे रास्ते से चलना वे साधना के लिए घातक मानते हैं। उनका स्पष्ट विचार है—"सरल बने विना सिद्ध गति कदापि नही हो सकती।"

विनय की प्रधानता

सन्त जीवन मे जिन सद्गुणो की अनिवार्य आवश्यकता है उसमे विनय भी प्रमुख गुण है। विनय को धर्म का मूल कहा है, तो अहकार को पाप का मूल बताया है। जिस साधक को अहकार का काला नाग डस लेता है वह साधना की सुधा पी नही सकता। अहकार और साधना मे तो प्रकाश और अधकार के समान वैर है— 'तेजस्तिमिरयोरिव'।

गुरुदेव का जीवन विनम्र ही नही, अति विनम्र है। आप श्रमण सघ के और अपनी भूतपूर्व परम्परा के वरिष्ट सन्त हैं, तथापि गुणीजनो का उसी प्रकार आदर करते हैं जैसे एक लघु सन्त करता हो। मुझे स्मरण है, परम श्रद्धेय उपाचार्य श्री गणेशीलालाजी म० के साथ श्रमण सघ के वैधानिक प्रश्नो को लेकर आपश्री का उनसे काफी मतभेद हो गया था। उपाचार्य श्री ने श्रमण सघ से व उपाचार्य पद से त्यागपत्र दे दिया था। पर जब आपश्री उदयपुर पधारे तब श्री गणेशीलालजी म० अस्वस्थ थे। आपश्री अपनी शिष्य मण्डली सहित वहाँ पधारे और सविधि वन्दन किया। गुरुदेवश्री की विनम्रता को देखकर श्री गणेशीलालजी म० का हृदय प्रेम से गद्गद् हो उठा और उन्होने गुरुदेवश्री को उठाकर अपनी छाती से लगा लिया। यह है गुरुदेवश्री के जीवन मे विनम्रता।

'विनम्रता ऐसा श्रेष्ठ कवच है, जिसे आज दिन तक कभी कोई छेद नही सका है' यह सूक्ति सर्वत्र सत्य है।

दया का देवता

दया सधना का नवनीत है। मन का माधुर्य है। दया की सरस रसधारा से साधक का हृदय उर्वर बनता है और सद्गुणो के कल्पवृक्ष फलते हैं, फूलते हैं। सन्त दया का देवता कहा जाता है। वह स्व और पर के भेदभाव को भुलाकर वात्सल्य और दया का अमृत प्रदान करता है। सन्त का हृदय नवनीत से भी विलक्षण है। नवनीत स्वताप से द्रवित होता है किन्तु पर-ताप से नहीं, किन्तु सन्त-हृदय पर-ताप से ही सदा द्रवित होते हैं, स्व-ताप से नही'

श्रद्धेय सद्गुरुदेव का कोमल हृदय किसी दुखी की करुण कथा को सुनकर ही द्रवित हो जाता है और स्वय कष्ट सहन कर उसके दुख को दूर करना चाहते हैं। श्रमणजीवन की अपनी एक मर्यादा है। उस मर्यादा मे रहकर ही वे कार्य कर सकते हैं। गुरुदेव ने साधु मर्यादा मे रहकर हजारो व्यक्तियो को दुख से मुक्त किया है।

जप-साधना

जैन साधना पद्धति मे जप का गहरा महत्व रहा है। वह आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय का एक प्रकार है। जप आधि, व्याधि और उपाधि को नष्ट कर समाधि प्रदान करता है। नियमित रूप से नियमित समय पर सद्गुरुदेव से सविधि महामन्त्र नवकार को लेकर यदि जाप किया जाय तो अवश्य ही सिद्धि मिलती है ऐसा सद्गुरुदेव का दृढ विश्वास है। वे स्वयं प्रतिदिन नियमित जाप करते हैं। वे भोजन की अपेक्षा भजन को अधिक महत्व देते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन मे जप की साधना साकार हो उठी है। वे खूब रसपूर्वक जप करते हैं। और जो भी उनके सम्पर्क मे आता है उसे भी वे जप की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे अपने प्रवचनो मे भी अनेक वार फरमाते हैं कि अन्य मत्र-तंत्रो के पीछे पागल होकर क्यो घूम रहे हो ? महामन्त्र जैसा प्रभावशाली अन्य कोई मन्त्र नही है। एक निष्ठा एकतानता के साथ उसका जाप करो तो तुम्हे अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होगी।

जीवन और शिक्षण

जीवन मे शिक्षा का वही महत्व है जो शरीर मे प्राण का है। शिक्षा के अभाव मे जीवन मे चमक-दमक पैदा नही हो सकती। गति और प्रगति नही हो सकती। यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो ने शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा—शरीर और आत्मा मे अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। अरस्तू ने कहा—जिन्होने मानव पर शासन करने की कला का अध्ययन किया है उन्हे यह विश्वास हो गया है कि युवको की शिक्षा पर ही राज्य का भाग्य आधारित है। एडिसन ने कहा—शिक्षा मानव-जीवन के लिए वैसे ही है जैसे संगमर्मर के पत्थर के लिए शिल्पकला। सद्गुरुदेव का मानना है कि विश्व मे जितनी भी उपलब्धिया हैं उनमे शिक्षा सबसे बढकर है। शिक्षा से जीवन मे सदाचार की उपलब्धि होती है। सद्गुणो के सरस सुमन खिलते है। दीक्षा के साथ शिक्षा भी आवश्यक है। यही कारण है कि आपने अपने शिष्यो व शिष्याओ को शिक्षा के क्षेत्र मे आगे बढने की प्रेरणा प्रदान की। उनकी शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था की। जिस युग मे सन्त-सतीवृन्द परीक्षा देने से कतराता था, उस युग में आपने उच्च परीक्षाएँ दी और अपने अन्तेवासियों से भी उच्च परीक्षाएँ दिलवाईं।

साहित्य और कला

साहित्य और कला मानव जीवन के लिए वरदान है। साहित्य और कला का सम्बन्ध आज से नही आदि काल से रहा है। जो साहित्यकार होगा वह कलाकार अवश्य होगा। दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भारत के महान कवि भर्तृहरि ने साहित्य, सगीत और कला से विहीन व्यक्ति को साक्षात पशु कहा है।

सद्गुरुदेवश्री के साहित्य मे कविता की गगा, कथा की यमुना और निबन्ध की सरस्वती का सुन्दर सगम हुआ है। उनकी कृतियो मे वाल्मीकि का सौन्दर्य है, कालीदास की प्रेपणीयता है, भवभूति की करुणा है, तुलसीदास का प्रवाह, सूरदास की मधुरता है, दिनकर की वीरता है और गुप्तजी की सरलता।

वे स्वय साहित्यस्रष्टा तो हैं ही, पर साहित्यकार को पैदा करने वाले भी हैं। उनके अनेक शिष्य कलम के धनी है, जिन्होने साहित्य की अनेक विधाओ मे खुलकर और जम कर लिखा है।

आलोचक से प्यार

जिस व्यक्ति के विमल विचारो मे गहनता, मौलिकता होती है, उन व्यक्तियो के विचारो की आलोचना भी सहज रूप से होती है। पर महान व्यक्ति उनकी ओर ध्यान न देकर अपने सही लक्ष्य की ओर निरन्तर वढते हैं। गुरुदेवश्री का दृढ मन्तव्य है कि व्यक्तित्व निन्दा से नही, निर्माण से निखरता है। जो उनकी आलोचना करते या प्रशसा करते हैं, वे दोनो से समान प्रेम करते हैं। उनके निर्मल मानस पर आलोचना और स्तुति का कोई प्रभाव नही पडता। प्रशसा करने वाले को वे कहते है—तुम्हारा स्नेह है इसलिए ऐसा कहते हो, और निन्दा-आलोचना करने वाले को कहते है—तुमने मुझे समझा नही है। तुम्हारा विरोध मेरे लिए विनोद है। अनुकूल परिस्थिति मे मुस्कराने वाले इस विश्व मे बहुत मिलेंगे, पर प्रतिकूल परिस्थिति मे भी जो गुलाब के फूल की तरह मुस्करा सके वही महान कलाकार है। गुरुदेवश्री अपनी मस्ती मे झूमते हुए कभी-कभी उर्दू के शायर का एक शेर सुनाया करते है—

> मजिले हस्ती मे दुश्मन को भी
> अपना दोस्त कर।
> रात हो जाय तो दिखलावे
> तुझे दुश्मन चिराग ॥

कितना सुन्दर, कितना मधुर और कितना सन्तुलित है उनका विचार।

वाणी के जादूगर

चीनी भापा के सुप्रसिद्ध धर्मग्रन्थ ताओ-उपनिपद् मे एक स्थान पर कहा है,

"हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नही होते और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास लायक नही होते।"

हृदय की गहराई से जो वाणी प्रस्फुटित होती है उसमे सहज स्वाभाविकता होती है जिस प्रकार कुएँ की गहराई से निकलने वाले जल मे शीतलता भी सहज होती है, ऊष्मा भी सहज होती है और निर्मलता भी। जो वाणी सहज रूप से व्यक्त होती है वह प्रभावशील होती है। जो उपदेश आत्मा से निकलता है वह आत्मा को स्पर्श करता है, जो केवल जीभ से ही निकलता है वह अधिक प्रभावशील नही होता, हृदय को छू नही सकता, चूंकि उसमे चिन्तन, मनन और आचार का वल नही होता।

साधारण व्यक्ति की वाणी वचन है और विशिष्ट विचारको की वाणी प्रवचन है। क्योकि उनकी वाणी मे चिन्तन, भावना, विचार और जीवन दर्शन होता है। वे निरर्थक बकवास नही करते, किन्तु जो भी वोलते हैं उसमे गहरा अर्थ होता है, तीर के समान वेधकता होती है। एतदर्थ ही सघदासगणी ने वृहतकल्प भाष्य मे कहा है—

गुणसुट्ठियस्स वयण घय सरिसित्तुव्व पावओ भवइ।
गुणहीणस्स न सोहइ नेहविहूणो जह पईवो।

गुणवान व्यक्ति का वचन घृत-सिंचित अग्नि के समान तेजस्वी और पथ प्रदर्शक होता है जबकि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित दीपक की भाँति निस्तेज और अधकार से परिपूर्ण।

श्रद्धेय सद्गुरुदेव जव वोलना प्रारम्भ करते हैं तव समस्त सभा मत्र-मुग्ध हो जाती है। श्रोता का मन और मस्तिष्क उनकी प्रवचनधारा मे प्रवाहित होने लगता है। आपकी वाणी मे हास्य रस, करुण रस, वीर रस, और शान्त रस सभी रसो की अभिव्यक्ति सहज रूप से होती है। आपको किञ्चित मात्र भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नही होती। वक्तृत्व कला आपका सहज स्वभाव है। आपकी वाणी मे मधुरता, सहज सुन्दरता है, भावो की लड़ी, भाषा की झडी और तर्कों की कडी का ऐसा सुमेल होता है कि श्रोता झूम उठते हैं। आत्मा, परमात्मा, सम्यक् दर्शन, स्याद्वाद जैसे दार्शनिक विपयो को सहज रूप से प्रस्तुत करते हैं। श्रोता ऊबता नही, थकता नही। आपका प्रवचन सुलझा हुआ, अध्ययनपूर्ण और सरस होता है। इसीलिए लोग आपको वाणी का जादूगर कहते हैं। किस समय क्या वोलना, कैसे बोलना और कितना बोलना यह आपको ध्यान है। आपके प्रवचनो मे नदी की धारा की भाँति गति है और अग्नि-ज्वाला की तरह उसमे आचार-विचार का तेज व प्रकाश परिपुष्ट है। आपकी मधुर व जादू भरी वाणी से सामान्य जनता ही नही, किन्तु साक्षर व्यक्ति भी पूर्ण रूप से प्रभावित होते हैं। आप जहाँ भी जाते हैं वहाँ की जनबोली मे

प्रवचन करते हैं। भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। आपमे विचारो को अभिव्यक्त करने की कला गजब की है। आपकी वाणी मे ओज है, तेज है और शान्ति है। वस्तुत. आप वाणी के कलाकार हैं।

सद्‌गुरुदेव के जीवन की हजार-हजार विशेषताएँ हैं, उन सभी विशेषताओ को अंकित करना सम्भव नही है। क्या कभी विराट समुद्र को नन्ही सी अँजलि मे भरा जा सकता है ? फिर भी वाल सुलभमन समुद्र की विशालता को हाथ फैलाकर वताने का प्रयत्न करता ही है, ऐसा ही प्रस्तुत प्रयत्न मैंने किया है।

❋

११
राष्ट्र का मेरुदण्ड : युवक

युवक राष्ट्र का मेरुदण्ड है। वह साहस की धधकती हुई ज्वाला है। धर्म की धुरा का धारक है। वह सस्कृति का सन्देशवाहक है। वह मानव प्रकृति का वसन्त है। तरुण का तन मिट्टी का नही, वज्र का वना हुआ होता है। उसका मन हिमालय की तरह उन्नत होता है, और सागर की तरह व्यापक होता है। उसका तन ही नही, मन भी उदात्त चिन्तन को लिए हुए होता है। वह धर्म, सम्प्रदाय, समाज मे आवद्ध होकर के भी किसी भी सकीर्ण घेरे मे वद्ध नही होता। उसका कर्म रूपी रथ श्री कृष्ण के रथ की भाति निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर वढना जानता है। कोई भी शक्ति उसके रथ को रोक नही सकती। चाहे कैसी भी कठिन परिस्थिति हो, वह हँसता और मुस्कराता हुआ आगे वढता है। स्वय साक्षात् मौत भी उसके सामने खडी हो, वह मौत से भी नही डरता। वह स्वय हँसता है और जो भी उसके सन्निकट आता है, उसको भी हँसाता है। उसे स्वय के सुख और दुःख की किंचित् मात्र भी चिन्ता नही होती। वह सतत् दूसरो के ही सुख और दु ख की चिन्ता करता है। उसके अन्तर्मानस की एक ही इच्छा होती है कि ससार के सभी जीव सुख के अनन्त सागर पर तैरते रहे; उनके जीवन को दु ख की काली आधी कभी भी प्रभावित न करे।

युवक राष्ट्र का भाग्य निर्माता है। जव शैशव की स्फूर्ति-शौर्य का सस्पर्श पाती है तो वह कमनीय कल्पना के अनुसार निर्माण कार्य मे संलग्न हो जाती है और देखते ही देखते विश्व का कायाकल्प हो जाता है। विश्व के रगमच पर जव भी क्रान्ति की स्वर-लहरियाँ झंकृत हुई हैं, उसका सूत्रधार युवक रहा है। जिस राष्ट्र मे युवाशक्ति प्रवुद्ध होती है, वह राष्ट्र अत्यन्त भाग्यशाली होता है। युवक, समाज व राष्ट्र का सच्चा एव अच्छा सजग प्रहरी है।

वर्तमान युग जागरण का युग है। युवक शक्ति अगडाई लेकर उठ रही है। उसके जीवन के कण-कण मे शक्ति और स्फूर्ति तरगित हो रही है। उसके मन मे चिन्तन की निर्मल गगा वह रही है। वाणी मे मधुरता की यमुना प्रवाहित हो रही है और उसके कर्म मे कर्त्तव्यनिष्ठा की सरस्वती का वज्र आघोप है। युवक शक्ति यदि चाहे तो नरक को रंगीन स्वर्ग मे वदल सकती है और कांटो को फूलो के रूप मे परिवर्तित कर सकती है। उसकी शक्ति अद्‌भुत है, अनोखी है और निराली है। कोई भी शक्ति उसकी प्रतिस्पर्धा नही कर सकती।

युवक की जगमगाती हुई विमल विचारधाराएँ सम्प्रदायवाद, गलत परम्परा व अन्धविश्वास से सदा मुक्त रहीं है। वह सदा ही खल-भाग का परित्याग कर रस-भाग को ग्रहण करती रही है। वह कभी भी कष्टो से घबराता नही, कष्टो की आधी आने पर भी उसका जोश कभी कम नही होता। चाहे कितनी भी कठिनाईयाँ आवे, वे उसके मार्ग को अवरुद्ध नही कर सकती। वह स्वर्ण की भाति कष्टो की धधकती हुई ज्वालाओ मे गिर करके अधिक चमकता है, दमकता है। वह मुर्दे की तरह पडा रहना पसन्द नही करता है, और न रुग्ण व्यक्ति की तरह आठ-आठ आँसू बहाना उसे पसन्द ही है। उसके तन मे ही नही, मन मे भी गर्मी होती है। उसका रक्त खौलता हुआ होता है। इसीलिए वह ससार का नव निर्माण कर सकता है।

अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति श्री केनेडी ने युवक की परिभाषा करते हुए कहा है—"जो व्यक्ति खतरे को मोल लेना जानता है, और ले सकता है, वह युवक है। जो खतरो से घबराता है वह बूढा है। वह कुछ भी निर्माण कार्य नही कर सकता"।

बालक का तन भी निर्बल होता है और मन भी! वह न गहराई से चिन्तन कर सकता है और न कार्य ही। वृद्ध की चिन्तन शक्ति प्रबुद्ध होती है, किन्तु तन जर्जरित होने के कारण वह कार्य करने मे सक्षम नही होता। उसके अन्तर्मानस मे कार्य करने की प्रवल भावना होती है तो भी वह तन की निर्बलता के कारण कार्य नही कर पाता। पर, युवक के तन मे हनुमान की तरह शक्ति होती है। जिस शक्ति से वह असम्भव कार्य भी सम्भव कर लेता है। और उसका मन भी चिन्तन करने के लिए सक्षम होता है। तन और मन का सुमेल युवक मे होता है। इसलिए उसके शब्दकोश मे "असम्भव" शब्द नही होता। उदासीनता और खिन्नता उसके आस-पास मे नही होती।

क्रान्ति और नव निर्माण की इस प्रभात वेला मे युवक शक्ति से एक खतरा पैदा हो गया है और वह—असयम, अनास्था, उच्छृंखलता, और अनुशासनहीनता, जिसके कारण उसकी जीवन दिशाएँ धु धली पड गयी हैं। और सही मार्ग पर बढने के लिए उसके कदम लडखडा रहे हैं, डगमगा रहे है। युवक शक्ति की इस विपम परिस्थिति से विश्व के सभी भाग्य विधाता चिन्तित हैं। प्रत्येक राष्ट्र का युवक इस भयकर झझावात से घिरा हुआ है। प्रतापपूर्ण प्रतिभा के धनी युवा-चेतना को किस प्रकार अनुशासित वनाया जाय? उनमे किस प्रकार सयम, आस्था, और कर्त्तव्य-निष्ठा जागृत की जाय? उसके अदम्य शक्ति प्रवाह को। जो निर्वाण की दिशा मे वह रहा है, उसे किस प्रकार निर्माण की दिशा मे मोडा जाय? जिससे वह राष्ट्र का सही सृजन कर सकें। धर्म, नीति और सस्कृति की ज्योति को प्रदीप्त कर सकें।

जहाँ तक मैं समझा हूँ, युवक मे आस्था भी है, जिज्ञासा भी है, धर्म,

दर्शन, साहित्य और संस्कृति को समझने की उसकी भावना भी है। क्षमता भी है। अतीतकाल मे एक वीर अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान मे यह जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य हैं? श्रीकृष्ण ने उसकी जिज्ञासाओ का समाधान दिया। आज के युवक वीर अर्जुन की भाँति जाज्वल्यमान समस्याएँ समुपस्थित करते हैं, पर अभिभावकगण या धर्मगुरु जो श्रीकृष्ण की भाँति हैं, वे उनकी समस्याओ का सही समाधान नही करते। उन्हे सही स्वरूप नही बताते, जिससे उनमे अनास्था जागृत होती है और वह प्रतिशोध के रूप मे प्रस्फुटित होती है। आवश्यकता है—युवको की समस्याओ का सही समाधान किया जाय। उन्हे धर्म का मर्म बताया जाय। आत्मा-परमात्मा के गुरु गम्भीर रहस्यो को बताया जाय और साथ ही कथनी और करनी मे एकरूपता लायी जाय, जिससे युवक मे आस्था जागृत होगी, और धर्म के सही स्वरूप को समझकर वे उसे हृदय से अपनायेंगे।

मैं युवाशक्ति से एक बात कहना चाहूँगा कि तुम गुलाब के फूल की तरह हो, तुम मे मनमोहक सौरभ है, तुम अपनी सौरभ से विश्व को आकर्षित कर सकते हो। किन्तु तुम्हारे जीवन मे जो दुर्गुणो के काँटे हैं, जिसके कारण तुम्हारे सद्‌गुण रूपी फूल आच्छादित हो चुके हैं। आवश्यकता है—उन दुर्गुणो के काटो को हटाने की। तुम्हारे जीवन मे से दुर्गुण नष्ट हो जायेंगे तो तुम्हारा जीवन जन-जन के लिए मगलमय होगा।

मैं आस्था और विचारशील युवको को आह्वान करता हूँ कि तुम उस पुण्य धरती मे पैदा हुए हो जिसकी आन, बान और शान निराली रही हैं, जहाँ के युवक देश के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए और धर्म के लिए हँसते और मुस्कराते हुए कुर्बान होते रहे हैं। तुम्हे भी वह आदर्श उपस्थित करना है। हे भारत के भाग्य विधाता युवको! तुम आगे बढो! तुम आगे बढोगे तो सभी आगे बढ़ेंगे।

"शुभास्ते सन्तु पन्थान। भद्रन्ते भूयात् ॥"